अस्तित्ववाद

अस्तित्ववाद

महावीर दाधीच

एम.ए., पी-एच.डी.

शब्दलेखा प्रकाशन, बीकानेर

अस्तित्ववाद

महावीर दाधीच

एम.ए., पी-एच.डी.

शब्दलेखा प्रकाशन, बीकानेर

श्री कीर्तिनाथ कुर्तकोटि उर्फ आचार्य जी
श्री सुरेन्द्रनाथ मिरजगी उर्फ प्रोफेसर
श्री हर्षद देसाई उर्फ देसाई
डा० ओमानन्द सारस्वत उर्फ चाचा
डा० पवनकुमार मिश्र उर्फ मोहब्बतसिंह
को

उन रातों की याद में,
जो चाय, सिगरेट और तर्काश्रित आदिष्ट भावाओं के माहौल से परिवेश
की जड़ता को सुबह तक परेशान किये रहती थीं
और इस उम्मीद में
कि ये लोग इस पुस्तक को खरीद कर पढ़ेंगे।

महावीर दाधीच

अनुक्रम

तीसरी सीमा भी अज्ञातजन्य है और वह है नाम, नगर आदि के उच्चारण की। इस क्षेत्र में मुझे भारतीय नामों और नगरों के अंग्रेजी उच्चारणों से साहस मिला है। उदकमण्डल 'उटकमण्ड' और मुम्बई 'बोम्बे' हो गया है। इस लिये यहां भी यदि उच्चारणगत 'नवीनता' आ गई हो, तो क्षम्य होनी चाहिये।

एकान्तिकत्व और पर की सीमाओं का उल्लेख मैं नहीं करूंगा।

एक स्पष्टीकरण भी। हेडेगर के प्रकरण में उसके ग्रन्थों को समग्रतः लिया गया है। भू (Being) की धारणा उसके बाद के ग्रन्थ Introduction to Metaphysic के आधार पर विवेचित हुई है, जब कि अन्य बातें प्रमुखतः Being and Time के आधार पर। कुछ विचारक हेडेगर के 'पूर्व' और 'पश्चात्' में विरोध देखते हैं। पर मुझे विरोध नहीं लगा है। वस्तुतः की धारणा, जो Being and Time में अस्पष्ट और केवल सकेतित है, इस दूसरे ग्रन्थ में अधिक स्पष्ट तथा मुखर हुई है। फलतः यह ग्रन्थ विरोधी न होकर पूरक है।

श्रद्धेय डॉ० छगन मोहता का अत्यन्त आभारी हूँ। उनके स्नेह, ज्ञान और विचार का मैंने खुलकर शोषण किया है। सुहृद डॉ० पूनम दईया की अनेकविध सहायता भी याद आ गई है।

बीकानेर
२५-३-६८

महावीर दाधीच

विषयसम्बद्ध ग्रंथ-सूची (अंग्रेजी में अनूदित)

I Kierkegaard

1. The Concluding Unscientific Post Script —Kierkegaard.
2. The Present Age. „
3. The Sickness Unto Death „
4. Repetition „
5. The Concept of Dread „
6. Either/Or „
7. Fear and Trembling „
8. Kierkegaard —W. Lowrie

II Jaspers

1. Man In the Modern Age. —Jaspers
2. The European Spirit „
3. Perennial Scope of Philosophy „
4. The Origin and Goal of History „
5. Way to Wisdon „
6. Reason and Existenz. „
7. Truth and Symbol „
8. Tragedy is not Enough „
9. The Philosophy of Karl Jaspers —P. A. Schilpp

III Heidegger

1. An Introduction to Metaphysics —Heidegger
2. Being and Time „
3. What is Philosophy „
4. The question of Being „
5. The meaning of Heidegger : a critical study of Existentialist Phenomenology —Thomas Langan
6. Kierkegaard and Heidegger ; The ontology of existence —Michael Wyschogrod.
7. Heidegger —M. Grene.

IV Sartre

1. Being and Nothingness —Sartre
2. The Psychology of Imagination ,,
3 Existantialism and Humanism ,,
4. Literary and Philosophical essays. ,,
5. What is literature ,,
6. The problem of Method ,,
7. Baudelaire ,,
8. Saint Genet ,,
9. Portrait of the Anti-Semite ,,
1o. Nausea (Novel) ,,
11. The Age of Reason (Novel) ,,
12. The Reprieve (Novel) ,,
13. The Iron in the soul (Novel) ,,
14. No exit, The flies, Nakrassov etc. ,,
(The plays and stories) ,,
15. The Tragic Finale —Wilfred Desan
16. A Critique of J. P. Sartre's ontology —Maurice Natanson
17. Sartre —Iris Murdoch
18. The Literature of Possibility —H. E. Barnes.
19. The Ethics of Ambiguity —Simone de Beauvoir
2o. Memoirs of a dutiful daughter. ,,

V Buber

1. I and Thou —Buber
2. Eclipse of God ,,
3. Between Man and Man ,,
4 Martin Buber, Jewish Existentialist—Malcolm Diamond

VI General

1. Existentialist Thought —Ronald Grimsley
2. Irrational Man —Willam Barrett
3. The Destiny of Man —N. Berdyaev
4. Bxistentialism —Foulquie
5. Beyond Existentialism —J. V. Rintelen

6 Makers of Modern Thought —G. O. Griffith
7. The Philosophy of Existence —G. Marcel
8. Existentialism and Modern Predicament —F. H. Heinemann
9. Existentialism from Within —E. L. Allen
10. Existentialism and Religious belief —D. E. Roberts
11. Six Existentialist Thinkers —Blackham
12. The Existentialists —James collins
13. The Philosophy of Decadentism : A study in Existentialism —N Bobbio
14. Dreadful Freedom : A critique of Existantialism —M. Grene
15. Encounter with Nothingness —H. Kuhn
16. Existentialist philosophies —B. Mounier
17. Existentialism —G. de Ruggiero
18 A short History of Existentialism —J. Wahl
19. The chellenge of Existentialism —John Wild
20. Courage to Be —Paul Tillich
21. Portable Neitzsche —W. Kaufman
22. Existentialism from Dostoevsky to Sartre—W. Kaufman
23. Existertialism : For and Against —P. Roubiczek
24. Existentialism and Indian Philosophy —Gurudutta
25. Age of complexity —Herbert Kohl

इन्द्रिय-विषय-लेखन पद्धति

(Phenomenological Method)

किसी भी वस्तु या विषय के अध्ययन की प्रक्रिया, रीति अथवा विधान पद्धति है। पद्धति अध्येता के लक्ष्य और अध्येय-वस्तु के रूप-स्वरूप से अनुशासित रहती है। यह लक्ष्य-वस्तु-सापेक्ष अर्थात् लक्ष्य और वस्तु के अनुरूप होती है। यदि वस्तुपरक सत्य की प्राप्ति लक्ष्य है, तो बौद्धिक पद्धति (rational method) का सहारा लेना अनिवार्य है। ऐसी परिस्थिति में मस्तिष्क (अध्येता) और वस्तु (अध्येय) में द्वैत स्थापित होता है और वस्तु मस्तिष्क से बहिष्कृत हो जाती है। वस्तु से ऐन्द्रिय, मानसिक और व्यक्तिगत संगता और सापेक्षता के स्थान पर बौद्धिक निरपेक्षता और निरपेक्षता उपजती है। इस पद्धति का एक पूर्व धारणा (apriority or hypothesis) से प्रारम्भ होता है। फिर आगमन, निगमन, वर्णन, प्रयोग, द्वन्द्वात्मकता आदि एकानेक प्रक्रिया, उपकरणों और साधनों द्वारा वस्तु की एक परिभाषा प्राप्त की जाती है अथवा निष्कर्ष निकाला जाता है, जो सामान्य, सार्वभौम, सार्वकालिक और सार्वदेशिक सार (essence) के रूप में होता है। विज्ञान और अधिकांश बुद्धि-सापेक्ष प्रत्ययवादी (idealistic) दर्शनों में इसी पद्धति का प्रयोग किया जाता रहा है। आत्मपरक सत्य की प्राप्ति के लिए सहजानुभूतिनिष्ठ (intuitional) पद्धति काम में ली जाती रही है। इस पद्धति में किसी विशेष प्रक्रिया का अनुसरण नहीं किया जाता और यह पूरी तरह व्यक्ति-सापेक्ष होती है। इसमें कोई पूर्वधारणा नहीं होती। सहजानुभूति ही धारणा और निष्कर्ष का रूप धारण कर लेती है। ये निष्कर्ष सामान्य (general) और सार्वभौम (universal) होते हुए भी वैज्ञानिक

अर्थ में सामान्य, सार्वभौम और सार्वकालीन नहीं होते, क्योंकि इनके मन्तव्य का वस्तुपरक परीक्षण असम्भव है। ये प्रयत्न के लिए बुद्धि के स्थान पर विश्वास और श्रद्धा पर आश्रित रहते हैं। रहस्यवाद, धर्म आदि की बातों का निरूपण इस पद्धति में होता रहा है।

चूंकि अस्तित्ववादी सामान्य, सार्वभौम, सार्वकालिक और सार्वदेशिक सार अथवा सत्य में विश्वास नहीं करते और न वे पूर्णतः सहजानुभूति के विवेकातीत निष्कर्षों में ही आस्था रखते हैं। फलतः दोनों ही पद्धतियां उन्हें अपूर्ण और अनुपयोगी लगती हैं। उनका लक्ष्य निर्विव निश्चित और अमूर्त सार को प्राप्त करना नहीं है तथा उनका विषय–अस्तित्व–भी स्थिर, निश्चित और सीमित नहीं है। वे निरन्तर प्रवहमान अस्तित्व की सम्यक् पहचान करना चाहते हैं। परिणामस्वरूप वे इन्द्रिय-विषय-लेखन पद्धति का आश्रय लेते हैं।

इन्द्रिय-विषय (Phenomenon)

Phenonenon शब्द ग्रीक धातु Phainesthai से बना है, जिसका मूल अर्थ है प्रकट होना। अर्थात् वे विषय जो चेतना में प्रकट होते हैं। दूसरे शब्दों में वे विषय जिनका सीधा बोध मन इन्द्रियों द्वारा प्राप्त करता है। इस तरह विषय या वस्तु के दो रूप हैं। एक–इन्द्रिय-बोधमय रूप अर्थात् जिस रूप में वे प्रकट होते हैं, बोधित होते हैं या प्रतीत होते हैं तथा दूसरा–विषयों का प्रकृत रूप, जो इन्द्रिय-निरपेक्ष फलतः चेतना से असपृक्त और शुद्ध होता है और जो कान्ट के अनुसार बौद्धिक सहजानुभूति का ही विषय है। हेडेगर (Heidegger) इन्द्रिय-विषय को बाहरी विषयों तक ही सीमित नहीं रखता, बल्कि इच्छाओं, भावनाओं, सिद्धान्तों आदि को भी वह इसके अन्तर्गत मानता है।

संक्षेप में चेतना-सयुक्त अनुभूति-रूप विषय ही इन्द्रिय-विषय है।

इन्द्रिय-विषय-लेखन पद्धति

इन्द्रिय-विषय अथवा इन्द्रिय-विषयवाद की धारणा का उल्लेख कान्ट, हीगल आदि पूर्ववर्ती दार्शनिकों में प्राप्त होता है। किन्तु जिस रूप में यह धारणा अस्तित्ववादियों में दिखाई देती है, उस इन्द्रियविषयवाद का पुरस्कर्ता हुसरल (Husserl) था। हुसरल अस्तित्ववादी नहीं था। उसका दर्श

अपने अंतिम रूप में इन्द्रियातीत प्रत्ययवादी है, तो भी इस दर्शन की प्रारम्भिक धारणाओं ने जर्मन और फ्रांसिसी अस्तित्ववादियों को अत्यधिक प्रभावित किया है। हुसरल की मान्यता थी कि पूर्ण वस्तुपरकता (objectivity) प्राप्त करने के लिए दार्शनिक के लिए यह अनिवार्य है कि वह अपना पूरा ध्यान उस विषय के लेखन या वर्णन पर केन्द्रित करे, जो चेतना के *प्रति प्रकट होता है। दूसरे शब्दों में वह इन्द्रिय-विषय का लेखन करे।* क्योंकि बोध प्राप्त करना और कार्य करना अथवा उत्पन्न करना एक नहीं है। बोधित होना केवल देखना है। इन्द्रिय-विषय स्वयमेव अपने आपको चेतना के परिवृत्त में अभिव्यक्त (manifest) करता है। यही उसका सच्चा और वस्तुपरक रूप है। इसीलिए 'विषयों के प्रति पुनर्गमन' की बात हुसरल कहता है। लेकिन इस बात पर विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए कि ये 'विषय' इन्द्रिय-विषय हैं। साधारण विषय नहीं हैं, जो वैज्ञानिक अथवा प्रत्ययवादी दर्शनों के अध्येय हैं। निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि इन्द्रिय-विषय चेतना-गृहीत विषय हैं।

इन्द्रिय-विषयवाद को पूरी तरह समझने के लिए हुसरल की '*चेतना*' की धारणा का विवेचन आवश्यक है। ब्रेंटिनो के प्रभाव से हुसरल चेतना को निदिष्ट (intentional) मानता है। चेतना सदैव स्ववाह्य विषय (object) की ओर निदिष्ट अथवा उन्मुख (pointing to) रहती है। अर्थात् यह '... की चेतना' है। दूसरे शब्दों में चेतना सदैव किसी विषय की चेतना है। चेतना इसी रूप में शुद्ध है अर्थात् शून्य है। पूर्वग्रह, धारणा या प्रत्यय आदि से यह पूर्णतः मुक्त है। कथित प्रत्यय आदि विवेकी चेतना (reflective consciousness) की सृष्टि है, अर्थात् ये चेतना में पूर्ववर्ती नहीं अनुवर्ती हैं। फलतः शुद्ध चेतना में इनकी स्थिति नहीं है। चेतना का यह दूसरा विवेकी रूप प्रत्ययवादी दर्शन, विज्ञान, गणित, तर्कशास्त्र आदि सब अध्ययन-शाखाओं का आधार है। फलतः हुसरल के अनुसार इन शाखाओं के परिणाम भी अपूर्ण या गलत हैं, क्योंकि इनमें विषय का विकृत (distorted) और अमूर्त रूप प्रस्तुत किया जाता है। इसलिए दार्शनिक के लिए यह आवश्यक है कि वह इन्द्रिय-विषय का लेखन-विश्लेषण करे अर्थात् विषय के चेतनात्मक सद्यानुभव (immediate experience) का वर्णन-विश्लेषण ही प्रत्येक विषय का सच्चा शुद्ध रूप प्रकट कर सकता है

इससे यह स्पष्ट होता है कि जो प्रकट होता है अथवा चेतना के क्षेत्र में जो विषय आता है उसका ठीक वर्णन कर देना इन्द्रिय-विषय-लेखन पद्धति है। इसमें किसी प्रकार की 'पूर्वता' (apriority) और पूर्वाग्रह (prejudices) नहीं होते। फलतः इसमें सैद्धान्तिक अथवा व्यावहारिक पूर्व योजना (postulates) या साध्य के लिए कतई अवकाश नहीं है। श्रुति-दृष्टि (revelation) और परम्परा का मान भी अस्वीकार्य है। इस रूप में यह पद्धति आगमन और निगमन दोनों बौद्धिक पद्धतियों की अवहेलना करती है, यद्यपि अंशतः बौद्धिक पद्धति के एक साधन 'वर्णन' का यह सहारा लेती है, तथापि यह 'वर्णन' के द्वारा कुछ सिद्ध नहीं करती अथवा कोई निश्चित सारभूत निष्कर्ष नहीं निकालती।

हेडेगर, सार्त्र, यास्पर्स, मर्लोपोन्टि आदि अस्तित्ववादी विचारक पद्धति के उपर्युक्त स्वरूप से शायद सहमत होंगे।

हुसरल का दर्शन प्रत्ययवादी और अर्थपरक (of meanings) है, अस्तित्व परक नहीं। दूसरी बात, हुसरल ने इस पद्धति को ही पूरे दर्शन या 'वाद' का रूप दे दिया है। वह अपने बहु-प्रचलित संक्षेपीकरणों (reductions) के द्वारा इन्द्रिय-विषय को बौद्धिक धारणाओं से ही मुक्त नहीं करता, बल्कि मानसिक प्रतिक्रियाओं (psychic responses) से भी स्वतन्त्र कर अतिक्रमणशील चेतना (transcendental consciousness) तक पहुँचता है। यही अतिक्रमी चेतना उसके अनुसार सच्चे ज्ञान या सत्य का आधार है। सार्त्र, हेडेगर आदि अस्तित्ववादी चिन्तक इन संक्षेपों को अस्वीकार करते हैं, क्योंकि इन्द्रिय-विषय से आगे जाने की आवश्यकता ही वे महसूस नहीं करते। वे हुसरल की निर्दिष्ट चेतना को ग्रहण करते हैं। चेतना हमेशा '.... की चेतना' होती है। अतः कतिपय अस्तित्ववादी इसे केवल साधन या पद्धति के रूप में लेते हैं, जो मानव-अस्तित्व के सहज रूप-स्वरूप के उद्घाटन में सहायक है। उनका उद्देश्य अस्तित्व की धारणा बनाना नहीं, अस्तित्व के सजीव अनुभव को प्रभावपूर्ण ढंग से पकड़ना है। वे किसी अमूर्त सत्य का प्रतिपादन नहीं करते, बल्कि अनुभव के मूर्त और नाटकीय पक्ष का वर्णन करना चाहते हैं, जो उनकी दृष्टि से सम्पन्न होगा। यह सत्य 'मेरा' सत्य है, जिसे 'मैं' अपने जीवन में ही साक्षात्कार करता हूं। इसीलिए कुछ अस्तित्ववादी (सार्त्र, मार्सेल, काम्यू आदि) उपन्यास, नाटक, कहानी आदि साहित्यिक

माध्यमों से अपनी बात प्रकट करते हैं। उनका उद्देश्य–साइमन द बोवाय के शब्दों में–अस्तित्व की क्रियमाण अवस्था को चित्रित करना है।

इस पद्धति का प्रचलन यद्यपि कीर्केगार्द के पश्चात् हुआ है, तो भी कीर्केगार्द का लेखन भी इसी पद्धति से मिलता-जुलता है। यास्पर्स और मार्सल इस पद्धति का उपयोग करते हैं। बहुतांश में हेडेगर और सार्त्र का विवेचन भी इस पद्धति के माध्यम से हुआ है।

२

अस्तित्व-वाद : कुछ स्थूल रेखायें

अस्तित्व-वाद की परिभाषा देना बहुत मुश्किल कार्य है क्योंकि अस्तित्व-वा
स्वयं किसी परिभाषा में विश्वास नहीं करता। परिभाषा देने का अर्थ यह
कि अस्तित्व का ऐसा रूप स्थिर कर लेना जो परिभाषा से संबन्धित नियम
द्वारा पूरी तरह से अनुशासित रहे, जिसका भूत, वर्तमान और भविष्य उ
परिभाषा में सीमित हो जाये। अस्तित्व-वाद के अनुसार मनुष्य के अस्तित्व क
परिभाषा इस रूप में नहीं दी जा सकती क्योंकि मनुष्य के भविष्य के बारे
किन्हीं निश्चित नियमों का निर्माण नहीं किया जा सकता। वह मूल रूप
स्वतन्त्र है, इसलिए सभी परिभाषाओं का अतिक्रमण करता है। उनके अनुसा
अस्तित्व या (to exist) का मतलब है एक ऐसा जीवन, एक ऐसी गति, जो स
प्रकार के नियमों को तोड़ कर प्रवहमान रहती है। इसका अर्थ हुआ कि अस्तित्व
वाद किसी भी प्रकार के एसेन्स या सार में विश्वास नहीं रखता। वस्तु का सा
अमूर्त होता है। वस्तु मूर्त गुणों और अनुभूतियों से हीन होकर जब एक विचा
का रूप धारण कर लेती है तो उसे हम सार की संज्ञा देते हैं। सार्त्र ने मेज
का एक उदाहरण दिया है। मेज का उत्पादन करने वाले के मस्तिष्क में मेज
का एक रूप रहा होगा अर्थात् एक विचार। मेज बाद में बनती है अर्थात् उसकी
निर्मिति का एक आधार है। इस मेज का सार निकाला जा सकता है और वह
सार है मेज सम्बन्धी विचार। हम मेज के भूत, वर्तमान और भविष्य को पूरी
तरह से जान सकते हैं। इसके बारे में भविष्यवाणी की जा सकती है कि यह
[illegible], यह इतनी ऊँची है और इतनी चौड़ी है
इत्यादि। इस अर्थ में मेज का जो सार पूर्वनिश्चित होता है, वह किस रूप में मेज

हम काम में लेते हैं वह रूप नहीं होता। वह रूप नष्ट हो जाता है और एक ऐसा विचार उत्पन्न होता है जो पूरी तरह से अमूर्त और निष्प्रयोजन है, जिसमे किसी भी प्रकार की आत्मपरकता नहीं होती। सार्त्र के अनुसार मनुष्य मेज नहीं है इसलिये उसकी इस रूप में परिभाषा नहीं दी जा सकती। इसका अर्थ यह है कि अस्तित्व-वाद में करने की क्रिया और विचार दोनों एक दूसरे के पूरक तो अवश्य हैं। पर विचार के पूर्व क्रिया की स्थिति है, जिसको हम इस तरह कह सकते हैं कि सार से पहले अस्तित्व आता है। (existence precedes essence—Sartre in 'existentialism and humanism') इसका अर्थ यह है कि मनुष्य सार नहीं है, इसलिए उसकी परिभाषा बनाना गलत है।

मनुष्य सार्वजनिक होने से पहले 'है' की संज्ञा प्राप्त करता है। होने का अर्थ है जो मनुष्य 'है' और यह 'है' किसी निश्चित स्वरूप में नहीं आता। मनुष्य इस होने की प्रक्रिया में यह बात पूरी तरह से अनुभव करता है कि चेतना के रूप में वह कुछ नहीं है अर्थात् चेतना में किसी भी प्रकार के पूर्वाग्रह, विचार या पूर्वधारणाएँ नहीं होतीं। वह किसी भी प्रकार के बन्धन से बद्ध नहीं है। दूसरी तरफ वह यह भी महसूस करता है कि वह वस्तु (ओबजेक्ट) नहीं है। इसलिये वस्तु में और मनुष्य की चेतना में एक प्रकार का तनाव सदैव रहता है। चेतना वस्तु रूप होना चाहती है अर्थात् वह ऐसा रूप धारण करना चाहती है, जिसकी निश्चित परिभाषा दी जा सकती है, सार बनाया जा सकता है। दूसरे शब्दों में मनुष्य चेतन होते हुए वस्तु की स्थिरता प्राप्त करना चाहता है। प्राचीन काल के प्रत्ययवादी दार्शनिक, धार्मिक विचारक और अंशतः वैज्ञानिक निष्कर्ष भी मनुष्य को सार के रूप में परिवर्तित करते हैं। मनुष्य की एक निश्चित धारणा बनाते हैं और इस प्रकार से वह मनुष्य की स्वतंत्रता, उसकी संभावना और उसकी क्रिया को बांधने की चेष्टा करते हैं। अस्तित्ववादी इसलिए इन सब में विश्वास नहीं करता क्योंकि उसका विश्वास है कि होने का मतलब है अपूर्व और अद्वितीय (unique) होना। किर्कगार्द ने स्पष्ट कहा है कि मेरा मानदण्ड व्यक्ति है (my category is the individual)। अन्य अस्तित्ववादी भी अपने अपने विशिष्ट रूप में इस बात से सहमत हैं। अतः हम यह निष्कर्ष प्राप्त कर सकते हैं कि सभी अस्तित्ववादी मनुष्य को व्यक्ति के रूप में प्रधानता देते हैं। इसका मतलब है, वह समाज की अपेक्षा व्यक्ति परक अधिक है।

दुश्चिन्ता उसके मानसिक जगत की दुश्चिन्ता है। यह साप को देखकर डर जाने की स्थिति नहीं है, बल्कि जो चुनाव किया है उसकी सम्भावना उसके द्वारा पड़ रहे प्रभाव से वह पीड़ित होता है और यह दुश्चिन्ता अस्तित्विक परिस्थितियों में सबसे पहले घनीभूत होती है। इसलिये ऐसी परिस्थितियों में मनुष्य सच्चे रूप से जीता है। जैसे मृत्यु के समय किसी व्यक्ति के सारी सारी जाती है उस समय उस व्यक्ति के सामने किसी तरह की जीवन की धारणा नहीं है। वह स्वयं उस सीतो के लिये या मृत्यु के लिये जिम्मेदार रहता है और उसकी चेतना पूरी तरह से शून्य रहती है।

अस्तित्व का अर्थ है मानवीय होना। वह मनुष्यता के क्षेत्र से अलग नहीं जाता। वह किसी प्रकार की भी दैवी-शक्ति पर विश्वास नहीं करता। वह किसी आध्यात्मिक फल की प्राप्ति की चेष्टा नहीं करता और न किसी विचारात्मक स्तर पर जीवन-यापन करने की चेष्टा करता है। वह तो जैसा मनुष्य है जिस रूप में मनुष्य अपने आपको बनाना चाहता है उस रूप का वर्णन करना पसन्द करता है। वर्णन इसलिये कि उसके अनुसार अस्तित्व का वर्णन ही किया जा सकता है। वर्णन ही की ऐसी पद्धति है जिसमें परिभाषा का निर्माण नहीं होता, जो सारोन्मुख नहीं है।

मनुष्य सम्भावना है, भविष्योन्मुख है। मनुष्य का भूतकाल भी इसलिये अस्तित्ववादियों के लिये महत्वपूर्ण नहीं है। वर्तमान के भूतकाल होते ही वह वस्तु के रूप में परिवर्तित हो जाता है। और मेज में और भूत में कोई फर्क नहीं रहता भूत मनुष्य की कार्यविधि, मनुष्य की सम्भावना तथा मनुष्य की योजना (प्रोजेक्ट) को किसी भी प्रकार से अनुशासित नहीं करता है। यह केवल स्मृति रूप में उपयोगी अथवा अनुपयोगी हो सकता है। यदि वह अनुपयोगी होता है तो मनुष्य उसे टूटी मेज के समान छोड़ देता है। जो मनुष्य ऐसा नहीं कर पाता, वह आत्म-प्रवंचक श्रद्धा (बैड फेथ) के अनुसार कार्यकरता रहता है। वह रोमेन्टिक होता है और इस तरह से वह सच्चा जीवन व्यतीत नहीं करता। क्योंकि मनुष्य हमेशा अतिक्रमणशील प्राणी है। वह हर प्रकार के सबन्धों का अतिक्रमण करता है। वह इस तरह से सर्वदा भविष्योन्मुख है। अपने भविष्य का निर्माण वह स्वयं करता है अर्थात् वह अपना निर्माण प्रत्येक क्षण करता है। और उस भविष्य के निर्माण में भूत किसी भी प्रकार से बाधक नहीं होता इसलिए अस्तित्ववादी प्रामाणिक जीवन (ऑथेन्टिक लिविंग) पर अधिक बल

यह व्यक्ति भी अकेला व्यक्ति है जिसके पास किन्ही परम्परागत मूल्यों का आधार नही है अतः जो भी करता है उसके लिये वह स्वयं जिम्मेदार है। कोई उसको उपदेश देने वाला या मार्गदर्शन कराने वाला प्राप्त नही है। उसे स्वयं को चुनाव करना पड़ता है और यह चुनाव उसके स्वय के जीवन अथवा अन्य व्यक्तियों के जीवन, जिनसे उनका सबन्ध है सब का निर्माण करता है। इसलिए यह बहुत बड़ा उत्तरदायित्व का कार्य है। उसके इस चुनाव पर इस तरह से पूरे समाज की व्यवस्था पूरे समाज का रूप निर्माण निर्भर करता है और वह यह चुनाव किसी की सहायता से नहीं करता। अपनी चेतना के द्वारा ही उसे यह चुनाव करना पड़ता है इसलिये इस चुनाव के जो भी प्रतिफल होते हैं उनके लिए वह अपने आपको एक भागीदार समझता है। इससे यह बात भी स्पष्ट हो गई कि अस्तित्ववादी केवल एक व्यक्ति की बात नहीं करता जो समाज निरपेक्ष होकर एकांत में किसी जगल मे जाकर साधना करता है, बल्कि उस व्यक्ति की बात करता है जो दूसरे व्यक्तियों के साथ रहता है। दूसरे व्यक्तियों के संपर्क में आता है। दूसरे व्यक्तियों से भावात्मक और विचारात्मक रूप से सबद्ध होता है, इसतरह व्यक्ति "अपने" संसार का निर्माण करता है। यह 'अपना संसार' वास्तव मे उसकी आत्मा का या चेतना का संसार है। जो वस्तु वह देखता है, जिन व्यक्तियों के वह सपर्क मे आता है, जिन परिस्थितियों को वह भावात्मक या अन्य स्तरों पर जीता है जो विचार वह पढ़ता है अथवा सुनता है उन सबको वह एक आंतरिक रूप देता है। और फिर उन सब का अपने अन्तर के अनुसार पुनर्निर्माण करता है। इस तरह से वैज्ञानिक का या दार्शनिक का वस्तुपरक संसार उसका कार्यक्षेत्र नही है, जिसमें किसी तरह की भावना नहीं होती जिसमें किसी प्रकार का सहभाव या (participation) नहीं होता। उस संसार के लिये वह स्वयं जिम्मेदार भी है क्योंकि जब वह चुनाव करता है तो वह अपने लिये ही चुनाव नही करता बल्कि इस पूरे संसार के लिये चुनाव करता है और चुनाव करते समय मनुष्य की और संसार की एक धारणा वह स्वयं निर्मित करता है। इसलिये उस चुनाव के द्वारा वह इस पूरे मानव-समुदाय और ससार के लिए उत्तरदायी सिद्धहोता है और चूंकि इस चुनाव में वह किसीभी बाहरी शक्ति का सहारा नहीं लेता। वह अपनी चेतना के द्वारा ही अपना यह चुनाव करता है, इसलिये उसके मन में एक प्रकार की दुश्चिन्ता हमेशा रहती है। क्योंकि वह अपने निर्णय की अनुकूलता या प्रतिकूलता के बारे मे निश्चित नहीं रहता। यह

दुश्चिन्ता उसके मानसिक जगत की दुश्चिन्ता है। यह साप को देखकर डर जाने की स्थिति नहीं है, बल्कि जो चुनाव किया है उसकी सभावना उसके द्वारा पड़ रहे प्रभाव से वह पीड़ित होता है और यह दुश्चिन्ता आत्यन्तिक परिस्थितियों मे सबसे पहले घनीभूत होती है। इसलिये ऐसी परिस्थितियों में मनुष्य सच्चे रूप मे जीता है। जैसे मृत्यु के समय किसी व्यक्ति के गोली मारी जाती है उस समय उस व्यक्ति के सामने किसी तरह की जीवन की धारणा नहीं है। वह स्वय उस गोली के लिये या मृत्यु के लिये जिम्मेदार रहता है और उसकी चेतना पूरी तरह से शून्य रहती है।

अस्तित्व का अर्थ है मानवीय होना। वह मनुष्यता के क्षेत्र मे अलग नही जाता। वह किसी प्रकार की भी दैवी-शक्ति पर विश्वास नहीं करता। वह किसी आध्यात्मिक फल की प्राप्ति की चेष्टा नही करता और न किसी विचारात्मक स्तर पर जीवन-यापन करने की चेष्टा करता है। वह तो जैसा मनुष्य है जिस रूप में मनुष्य अपने आपको बनाना चाहता है उस रूप का वर्णन करना पसन्द करता है। वर्णन इसलिये कि उसके अनुसार अस्तित्व का वर्णन ही किया जा सकता है। वर्णन ही की ऐसी पद्धति है जिसमे परिभाषा का निर्माण नहीं होता, जो सारोन्मुख नहीं है।

मनुष्य सभावना है, भविष्योन्मुख है। मनुष्य का भूतकाल भी इसलिये अस्तित्ववादियों के लिये महत्वपूर्ण नहीं है। वर्तमान के भूतकाल होते ही वह वस्तु के रूप मे परिवर्तित हो जाता है। और मेज में और भूत में कोई फर्क नही रहता भूत मनुष्य की कार्यविधि, मनुष्य की सभावना तथा मनुष्य की योजना (प्रोजेक्ट) को किसी भी प्रकार से अनुशासित नही करता है। वह केवल स्मृति रूप मे उपयोगी अथवा अनुपयोगी हो सकता है। यदि वह अनुपयोगी होता है तो मनुष्य उसे टूटी मेज के समान छोड देता है। जो मनुष्य ऐसा नहीं कर पाता, वह आत्म-प्रवचक श्रद्धा (बैड फेथ) के अनुसार कार्यकरता रहता है। वह रोमेन्टिक होता है और इस तरह से वह सच्चा जीवन व्यतीत नहीं करता। क्योंकि मनुष्य हमेशा अतिक्रमणशील प्राणी है। वह हर प्रकार के सबन्धों का अतिक्रमण करता है। वह इस तरह से सदैव भविष्योन्मुख है। अपने भविष्य का निर्माण वह स्वय करता है अर्थात् वह अपना निर्माण प्रत्येक क्षण करता है। और उस भविष्य के निर्माण मे भूत किसी भी प्रकार से बाधक नहीं होता इसलिए अस्तित्ववादी प्रामाणिक जीवन (आथेन्टिक लिविंग) पर अधिक बल

देता है । प्रामाणिक जीवन का अर्थ है शुद्धचेतना के अनुसार निर्णय लेना और कार्य करना । अपने स्वय को, अपनी पूर्वाग्रह हीन सहज ' की चेतना' के प्रवाह को क्रिया के रूप मे प्रयोग कर देना ही सच्चा अस्तित्व है । इसमे इस लिये यह निष्कर्ष निकलता है कि होने का अर्थ है या जीने का अर्थ है व्यक्तिगत ईमानदारी । अस्तित्ववादी ईमानदारी को वैज्ञानिक सचाई की अपेक्षा अधिक महत्व देता है । इस रूप मे वह मूल्यों का निर्माता स्वय है । वह किसी भी प्रकार के सामान्य, सार्वभौम या देशकाल निरपेक्ष मूल्यो मे विश्वास नही करता । वह जिन मूल्यो का स्वय निर्माण करता है उन मूल्यों की भी उसी समय तक उपयोगिता है या सच्चाई है जब तक वह किसी न किसी तत्सम्बद्ध क्रिया से सबन्धित है । अस्तित्ववादी मूल्यों की श्रेणी विभाजन मे भी विश्वास नही करता । मूल्यो से सबन्धित किसी निश्चित योजना को भी वह स्वीकार नही करता । सर्जित मूल्यो का कार्य अथवा मूल्यो की क्रिया को सार्थकता प्रेरित करने मे है । इस तरह मूल्य कार्य की निष्पत्ति मात्र है कार्य के प्रतिफल रूप हैं ।

अस्तित्ववाद मे इसलिए मनुष्य के भावात्मक जीवन का वर्णन ही नहीं होता, मनुष्य को समग्ररूप से देखा जाता,है उसका खण्ड रूप मे विवेचन करना विज्ञान या प्रत्ययवादी दर्शन का कार्य हो सकता है । अस्तित्ववादी मनुष्य जीवित मनुष्य है, वह क्षण क्षण मे जिन्दा रहता है , वह प्रत्येक क्षण अपने आपको पुनर्सर्जित करता है । वह प्रत्येक क्षण मूल्य बनाता है, और ये सब कार्य बिना किसी बाहरी आधार के होता है । अस्तित्ववाद इस तरह से एक विशेष प्रकार के मानवीय दृष्टिकोण को लेकर चलता है । प्रबोध युग मे जिस मनुष्यता की महत्ता का गुणगान किया गया था कि मनुष्य ही सर्वप्रमुख है, मनुष्य उन्नति कर रहा है, मनुष्य स्वतत्र है और मनुष्य इस संसार मे पूर्णता प्राप्त कर सकता है । इस प्रबोध युग की मान्यता का विकास अस्तित्ववाद है । यह उसी सिक्के का दूसरा पहलू है। अस्तित्ववादियो ने प्रबोध युगीन मान्यता मे से जो रोमेण्टिसिज्म था, जो कल्पना थी, जो अमूर्त परिभाषा थी, जिसका परिस्थितियो से कोई संबन्ध नही था उसको हटा दिया है । इसका मूल कारण तो परिवेश रहा है । वैज्ञानिक उन्नति के कारण जो यन्त्रवाद उत्पन्न हुआ है, वह भी इसकी उत्पत्ति का एक कारण है। इन सब परिस्थितियों ने इस बात मे विश्वास उठा दिया कि मनुष्य पूर्ण है, पूर्णता प्राप्त कर सकता है या मनुष्य उन्नति कर सकता है । अस्तित्ववादी यह मान कर चलते हैं कि मनुष्य अपूर्ण है और वह उन्नति नहीं कर रहा है । फिर भी वह अपने लिए

और समाज के लिए महत्वपूर्ण है। अस्तित्ववाद में मनुष्य की निराशाजनक परिस्थितियों का अधिक विवेचन इसलिए मिलता है, क्योंकि वह जानता है कि निराशा या असफलता मनुष्य के जीवन का प्रमुख अंग है। विचार के द्वारा इसकी निराशा को दूर नहीं किया जा सकता। धर्म के द्वारा भी उस निराशा का समाधान प्राप्त नहीं कर सकते। क्योंकि पहला मनुष्य को विषय (object) बना देता और दूसरा मनुष्येतर सत्ता को प्राधान्य देता है। अतः वह कहता है कि इस निराशा और इस असफलता के साथ ही मनुष्य को जीना चाहिये। एक प्रकार का सामञ्जस्य उसे अपने जीवन में स्थापित करना चाहिये। निराशा, दुख इत्यादि से भागने की चेष्टा न करके उसे यह मान लेना चाहिये एक निराशा, दुख, संत्रास, मृत्यु आदि जीवन के प्रमुख अंग हैं इसलिए उसको ईमानदारी के साथ उत्तरदायित्व पूर्ण स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करना चाहिये। ऊपरी रूप में यह मानवतावाद के विरुद्ध बात लगती है लेकिन व्यक्तिगत स्वतन्त्रता, उत्तरदायित्व, चुनाव की स्वतन्त्रता, मूल्यों के निर्माण में व्यक्ति चेतना यह सब चीजें मूल रूप में मानवतावादी हैं। यह सच्चा मानवतावाद है क्योंकि इसमें प्रबोध युगीन मानवतावाद के प्रत्ययवादी काल्पनिक गुण हटा दिये गये हैं और बीसवीं सदी के मनुष्य जीवन ने यह सिद्ध कर दिया है कि प्रबोध युगीन मानवतावाद भावनात्मक परंपरा पर आधारित था, भावुकता पूर्ण था, जिसका कोई सम्यक् आधार नहीं था।

३

कीर्केगार्द
(Kierkegaard)

कीर्केगार्द उन्नीसवीं शताब्दी का बड़ा ही विचित्र व्यक्ति था, जिसका प्रभाव अपने युग पर कोई खास नहीं रहा लेकिन बीसवीं शताब्दी में बहुत सी दार्शनिक धाराओं की प्रेरणा का स्रोत वह रहा है। अस्तित्ववाद, तार्किक वस्तुवाद आदि सब उससे किसी न किसी रूप में प्रभावित हुए हैं। उसने बहुत सी पुस्तकें बड़े ही साहित्यिक ढंग से लिखी हैं। उन पुस्तकों में हमें पूरी तरह से तार्किक पद्धति का अनुसरण नहीं मिलता। कीर्केगार्द सीधी रीति से अपने विचारों को प्रकट नहीं करता। वह प्लेटो के समान अथवा रोमाण्टिक लोगों के समान छद्मनामी पात्रों के द्वारा अपनी पुस्तकों में सिद्धान्त-कथन करता रहा है। उसकी एक आदत यह भी थी कि वह जनता में यह कहा करता था कि छद्मनामों द्वारा लिखी गई पुस्तकों में उसका एक भी शब्द नहीं है, जबकि वास्तव में प्रत्येक शब्द उसके द्वारा लिखा हुआ है। ये पुस्तकें कभी कभी बहुत आनन्ददायी हैं, कभी कभी बहुत ही उबानेवाली भी हैं। कभी धार्मिक व्यक्ति जैसा उत्साह उनमें दिखाई देता है तो कभी मानसिक रोगी जैसी बकवास भी वह लगाती हैं। लेकिन ये सब रूप कीर्केगार्द के ही रूप थे।

कीर्केगार्द का दर्शन उस समय तक नहीं समझा जा सकता जब तक कि उसके जीवन के कुछ तथ्यों को हम नहीं जान लें क्योंकि यही एक दार्शनिक है जिसके कथन या विचार और कार्य में अथवा दर्शन और जीवन में बिलकुल भी अन्तर नहीं मिलता। लगता है कि उसने जीवन को भी दर्शन का रूप दे दिया था अथवा दर्शन को ही जीवन में परिवर्तित कर दिया था। इस रूप में कीर्केगार्द बहुत ही प्रामाणिक दार्शनिक है। कोपेनहेगन में ५ मई १८१३ में

उसका जन्म हुआ । वह सात बच्चों में अन्तिम था । उसके माता-पिता कृषक परिवार के थे । उसका पिता दुःखी स्वभाव का था । उसका पिता जब बच्चा था तो एक दिन धूप में जब वह भेड़ें चरा रहा था अपनी दुःख पूर्ण जिन्दगी के लिए उसने ईश्वर को बुरा भला कह दिया । बुढ़ापे में अपनी मृत्यु के समय उसने अपने इस पाप को कीर्केगार्द के सामने स्वीकार किया । कीर्केगार्द प्रारम्भ में ही इतना अधिक धार्मिक वृत्ति का था कि वह इस स्वीकार से बहुत अधिक विचलित हो गया और उसने इस से यह अर्थ निकाला कि आज से ईश्वर का कोप या अभिशाप पूरे परिवार पर रहेगा । इसी कारण वह अपने बचपन को अच्छी प्रकार से सुख पूर्वक नहीं बिता सका । वह अपनी पुस्तकों में स्वीकार करता है कि वह कभी बच्चा था ही नहीं । कभी जवान नहीं हुआ । कभी मनुष्य नहीं बना । कभी जिन्दा नहीं रहा । उसे कभी भी दूसरे व्यक्तियों के साथ सहज सम्बन्धों की अनुभूति नहीं हुई । इसलिए वह हमेशा एक प्रकार के वियोग-पूर्ण जीवन में ही रहा है । वह कल्पनाओं के काल्पनिक जीवन में विचरण करता रहा । स्कूल और विश्वविद्यालय में भी वह अजनबी सा रहा । यद्यपि वह बहुत ही होशियार, बातचीत करने में कुशल और अपने प्रति मजाक करने में मशहूर रह चुका था । उस काल में हीगेल का दर्शन बहुत अधिक प्रचलित था । उसने भी हीगेल के दर्शन को पढ़ा और बाद में बहुत ही डट कर विरोध किया । १८४० में उसने धर्म विज्ञान की परीक्षा पास की और पेस्टोरल सेमीनारी में भर्ती हो गया । इसी साल वह अपनी प्रेमिका रेगिना ग्रोल्सन से एंगेज हुआ और यह एंगेजमेन्ट १८४१ में उसने तोड़ दिया । यह ऐसी घटना थी जिसने उसके आध्यात्मिक जीवन और साहित्यिक जीवन को बहुत गहराई से प्रभावित किया । इसके बाद उसने बहुत लिखा । उसके लेखन-कार्य ने डेनिश पत्र पंच इत्यादि को उसका शत्रु बना दिया । पंच एक ऐसा पत्र है जो चर्च का समर्थन करता था । अन्तिम समय में कीर्केगार्द ने चर्च की ईसाइयत का बहुत बुरी तरह से विरोध किया । इस विरोध के कारण उसका स्वास्थ्य धीरे-धीरे बिगड़ता गया और १८५५ के २ अक्टूबर को कोपेनहेगन की सड़क पर चलता हुआ वह गिर पड़ा और बेहोशी की अवस्था में ही वह ११ नवम्बर को मर गया । कीर्केगार्द का पूरा जीवन अव्यवस्था, असंगति और असामञ्जस्य में ही व्यतीत हुआ । इसका प्रभाव उसके दर्शन पर भी पड़ा है ।

कीर्केगार्द सच्चे अर्थ में अस्तित्ववादी नहीं है । अस्तित्ववाद का आज हम जो अर्थ बीसवीं शताब्दी में लेते हैं, वह अस्तित्ववाद उसमें नहीं मिलता । फिर

३

कीर्केगार्द
(Kierkegaard)

कीर्केगार्द उन्नीसवीं शताब्दी का बड़ा ही विचित्र व्यक्ति था, जिसका प्रभाव अपने युग पर कोई खास नहीं रहा लेकिन बीसवीं शताब्दी में बहुत सी दार्शनिक धाराओं की प्रेरणा का स्रोत वह रहा है। अस्तित्ववाद, तार्किक वस्तुवाद आदि सब उससे किसी न किसी रूप में प्रभावित हुए हैं। उसने बहुत सी पुस्तकें बड़े ही साहित्यिक ढंग से लिखी हैं। उन पुस्तकों में हमें पूरी तरह से तार्किक पद्धति का अनुसरण नहीं मिलता। कीर्केगार्द सीधी रीति से अपने विचारों को प्रकट नहीं करता। वह प्लेटो के समान अथवा रोमान्टिक लोगों के समान छद्मनामी पात्रों के द्वारा अपनी पुस्तकों में सिद्धान्त-कथन करता रहा है। उसकी एक आदत यह भी थी कि वह जनता में यह कहा करता था कि छद्मनामों द्वारा लिखी गई पुस्तकों में उसका एक भी शब्द नहीं है, जबकि वास्तव में प्रत्येक शब्द उसके द्वारा लिखा हुआ है। ये पुस्तकें कभी कभी बहुत आनन्ददायी हैं, कभी कभी बहुत ही उबानेवाली भी हैं। कभी धार्मिक व्यक्ति जैसा उत्साह उनमें दिखाई देता है तो कभी मानसिक रोगी जैसी बकवास भी वह लगती हैं। लेकिन ये सब रूप कीर्केगार्द के ही रूप थे।

कीर्केगार्द का दर्शन उस समय तक नहीं समझा जा सकता जब तक कि उसके जीवन के कुछ तथ्यों को हम नहीं जान लें क्योंकि यही एक दार्शनिक है जिसके कथन या विचार और कार्य में अथवा दर्शन और जीवन में बिलकुल भी अन्तर नहीं मिलता। लगता है कि उसने जीवन को भी दर्शन का रूप दे दिया था अथवा दर्शन को ही जीवन में परिवर्तित कर दिया था। इस रूप में कीर्केगार्द बहुत ही प्रामाणिक दार्शनिक है। कोपेनहेगन में ३ मई १८१३ में

उसका जन्म हुआ। वह सात बच्चों में अन्तिम था। उसके मातापिता कृषक परिवार के थे। उसका पिता दुखी स्वभाव का था। उसका पिता जब बच्चा था तो एक दिन भूख में जब वह भेड़ें चरा रहा था अपनी दुख पूर्ण जिन्दगी के लिए उसने ईश्वर को बुरा भला कह दिया। बुढ़ापे में अपनी मृत्यु के समय उसने अपने इस पाप को कीर्केगार्द के सामने स्वीकार किया। कीर्केगार्द प्रारम्भ में ही इतना अधिक धार्मिक वृत्ति का था कि वह इस स्वीकार से बहुत अधिक विचलित हो गया और उसने इस में यह अर्थ निकाला कि आज से ईश्वर का कोप या अभिशाप पूरे परिवार पर रहेगा। इसी कारण वह अपने बचपन को अच्छी प्रकार से सुख पूर्वक नहीं बिता सका। वह अपनी पुस्तकों में स्वीकार करता है कि वह कभी बच्चा था ही नहीं। कभी जवान नहीं हुआ। कभी मनुष्य नहीं बना। कभी जिन्दा नहीं रहा। उसे कभी भी दूसरे व्यक्तियों के साथ सहज सबन्धों की अनुभूति नहीं हुई। इसलिए वह हमेशा एक प्रकार के वियोग-पूर्ण जीवन में ही रहा है। वह छद्मनामों के काल्पनिक जीवन में विचरण करता रहा। स्कूल और विश्वविद्यालय में भी वह अजनबी सा रहा। यद्यपि वह बहुत ही होशियार, बातचीत करने में कुशल और अपने प्रति मजाक करने में मशहूर रह चुका था। उस काल में हीगेल का दर्शन बहुत अधिक प्रचलित था। उसने भी हीगेल के दर्शन को पढ़ा और बाद में बहुत ही डट कर विरोध किया। १८४० में उसने धर्म विज्ञान की परीक्षा पास की और पेस्टोरल सैमीनारी में भर्ती हो गया। इसी साल वह अपनी प्रेमिका रेगिना ओल्सन से एंगेज हुआ और यह एंगेजमेन्ट १८४१ में उसने तोड दिया। यह ऐसी घटना थी जिसने उसके आध्यात्मिक जीवन और साहित्यिक जीवन को बहुत गहराई से प्रभावित किया। इसके बाद उसने बहुत लिखा। उसके लेखन-कार्य ने डेनिश पत्र पच इत्यादि को उसका शत्रु बना दिया। पच एक ऐसा पत्र है जो चर्च का समर्थन करता था। अन्तिम समय में कीर्केगार्द ने चर्च की ईसाइयत का बहुत बुरी तरह से विरोध किया। इस विरोध के कारण उसका स्वास्थ्य धीरे-धीरे बिगड़ता गया और १८५५ के २ अक्टूबर को कोपेनहेगन की सड़क पर चलता हुआ वह गिर पड़ा और बेहोशी की अवस्था में ही वह ११ नवम्बर को मर गया। कीर्केगार्द का पूरा जीवन अव्यवस्था, असगति और असामञ्जस्य में ही व्यतीत हुआ। इसका प्रभाव उसके दर्शन पर भी पड़ा है।

कीर्केगार्द सच्चे अर्थ में अस्तित्ववादी नहीं है। अस्तित्ववाद का आज हम जो अर्थ बीसवीं शताब्दी में लेते हैं, वह अस्तित्ववाद उसमें नहीं मिलता। फिर

भी वह उस धारा का प्रवर्तक है और इस पूरे विचार प्रवाह में उसकी प्रतिछाया बहुत अधिक मिलेगी। Existence शब्द को नये अर्थ में प्रयुक्त करने का कार्य उसी ने संपादित किया और आज के जितने भी अस्तित्ववादी लेखक—हेडेगर, सार्त्र आदि सब उससे प्रभावित हैं। यह बाद में हमारे सामने प्रकट होगा।

हमारे लिए यह जानना आवश्यक है कि कीर्केगार्द ने अपने समय का निदान क्या किया? उसकी समस्या क्या थी? इसका निरूपण उसकी बहुत ही रुचिकर एक पुस्तक* में प्राप्त होता है। कीर्केगार्द समूह-मानव (मासमैन), समाजवाद, समूहवाद और विज्ञान से उत्पन्न सामान्य सिद्धान्तों के कारण आ रही समानता का विरोध करता है। इन सब में व्यक्ति की उपेक्षा होती है। व्यक्ति अपनी सिगुलरटी और अपनी आत्मा के गुणात्मक अन्तर को नष्ट होता हुआ देखता है और इस तरह से बाहरी प्रकार का अलगाव उत्पन्न होता जा रहा है। व्यक्ति समूह से मानसिक रूप से हटता जा रहा है। कीर्केगार्द कहता है कि राजकुमारों के विरुद्ध लड़ाई करना समूह-समानता की तानाशाही या मूर्खता से लड़ाई करने से आसान है। इसलिये प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह समूह के दैत्य से, इस सामान्यीकरण की प्रक्रिया से जीवित व्यक्ति की रक्षा करने के लिए युद्ध करे, वह व्यक्ति जो अमूर्त विचार मय होता जा रहा है या वह व्यक्ति जो विज्ञान के निष्कर्षों में या कानून के पंजे में नष्ट होता जा रहा है। इस रूप में कीर्केगार्द विज्ञान और हीगेल तक के दर्शन का विरोध करता है। देकार्त का प्रसिद्ध सूत्र 'cogito, ergo sum' अर्थात् 'मैं विचार करता हूँ इसलिए मैं हूँ' कीर्केगार्द को स्वीकार नहीं है वह उसे 'sum, ergo cogito' के रूप में परिवर्तित कर देता है अर्थात् 'मैं हूँ इसलिए विचार करता हूँ।' मार्क्स भी कुछ ऐसा ही करता है। किन्तु मार्क्स 'मैं हूँ' को भौतिक आधार में व्याख्यायित करता है और अन्त में वह भी एक प्रकार के आइडिया अथवा विचार में व्यक्ति को भूल जाता है। मार्क्स इस प्रक्रिया में चेतना को पूरी तरह से अस्वीकार करता है और मनुष्य के अर्थ और सामाजिक परिवेश को ही उस के अस्तित्व के लिए उत्तरदायी मानता है। कीर्केगार्द चेतना को अस्वीकार नहीं करता वह चेतना और मस्तिष्क की नई व्याख्या देता है। वह व्यक्ति व उसकी आत्मा के नाम पर देकार्त और हीगल इन दोनों का विरोध करता है। इसलिए उसका चेतनात्मक दार्शनिक दृष्टिकोण बड़ा विरोधाभास पूर्ण है। वह अमूर्त

---

* The Present Age

चेतना की स्थिति को स्वीकार करता है। इसके साथ साथ वह अमूर्त विचार को भी मान्य मानता है। उसके अनुसार मूर्त आध्यात्मिक व्यक्ति की आत्मिक या पारमार्थिक ही स्थिति है। हीगल अन्तिम सत्य के रूप में spirit अर्थात् आत्मा को स्वीकार करता है और सब प्रकार के विरोधी सम्बन्धों को आत्मा या विचार के विकास के रूप में देखता है अर्थात् सारे संसार में एक ही आत्मा का तत्त्व भिन्न-भिन्न आकारों में दिखाई देने वाली वस्तु में व्याप्त है और इसे सिद्ध करने के लिए वह द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का सहारा लेता है। हीगल प्रकृति का अवस्थाओं के रूप में देखता है। प्रकृति का यह विकास आत्मिक है अर्थात् विचारोन्मुख है। विचार का यह कार्य है जो पूरी प्रकृति का आधार है। इसलिए पूरा विकास या परिवर्तन विचार का विकास या परिवर्तन है। इस तरह से हीगल के दर्शन में सब विरोधों का समन्वय एक सार्वभौम विचार में हो जाता है। उस सार्वभौम विचार को विश्वात्मा कहा जा सकता है। व्यक्ति अपने आपको समाज अथवा विश्व की अनेक सत्ताओं में भाग लेकर ही आइडीयलाइज (रियलाईज) कर सकता है। इस तरह से हीगल का दर्शन धर्म को एक विचार का रूप प्रदान करता है।

कीर्केगार्द हीगल के मत का प्रबल विरोध करता है। उसके अनुसार हीगल की सबसे बड़ी गलती यह थी कि उसने विश्व-इतिहास के भूतातीत पक्ष पर बहुत अधिक बल दिया है, जिसका फल यह हुआ है कि व्यक्ति केवल एक दर्शक के रूप में रह गया है। वह इसमें भाग नहीं लेता और वह इसके प्रवाह में कोई परिवर्तन नहीं कर सकता। हीगल का दर्शन उसके नैतिक आचरण को भी अनुशासित करता है। इसलिए कीर्केगार्द के अनुसार हीगल मूर्त और प्रामाणिक जीवन का बिलकुल विवेचन नहीं करता। उसके शब्दों में कहें तो हीगल की पकड़ से 'जीने' का क्या अर्थ है यह चीज बचती रही है। वह केवल जिन्दगी का प्रतिनिधि या प्रतीक जानता है वह जीना नहीं जानता। हीगल का दर्शन इस तरह से एक समूहगत 'हम' का रूप स्थापित करता है। 'मैं' की इसमें कोई सत्ता नहीं। इस प्रकार के युग को कीर्केगार्द अनैतिक युग कहता है, जहां पर विचार और जीवन में कटाव है जहां पर नैतिकता और कार्य में विभाजन है। हीगल के दर्शन का कीर्केगार्द ने भावात्मक विरोध इसलिये भी किया। क्योंकि हीगल-दर्शन का ईसाई धर्म पर भी प्रभाव पड़ता जा रहा था। सच्चा ईसाई धर्म हीगल के विचार में खोता जा रहा था। श्रद्धा परम्परा, पुराण और अवतार आदि पर आश्रित ईसाई धारणा नष्ट होती जा रही थी। एक

शब्द में कीर्केगार्द के अनुसार यह युग सिद्धान्तीकरण का युग था जीवन का युग नहीं, धर्म का युग नहीं।

इसलिये वह हीगल के अमूर्त विचार, सामान्य सिद्धान्त पर उसके बल, उसके सह-अस्तित्ववाद और बुद्धि के माध्यम (mediation) का विरोध करता है। उसके अनुसार हीगल का दर्शन प्रतिज्ञा (commit) नहीं करता, इसलिए उसमें जिन्दा जीवन नहीं है। कीर्केगार्द समष्टि के विरुद्ध व्यक्ति की रक्षा करता है अर्थात् उसके अनुसार व्यक्ति प्रमुख है। व्यक्ति की भावनाएं, उसके व्यवहार उसके जीवन के आधार, उसकी निराशा--यही सब सच्चा जीवन है। जो दर्शन इस जीवन की अवहेलना करता है वह दर्शन केवल बौद्धिक विलास है। सच्चा दर्शन एक वास्तविक मानव की परिस्थिति का एकान्त और व्यक्तिनिष्ठ रूप में अध्ययन करता है। कीर्केगार्द का यह विद्रोह अथवा यह विरोध धार्मिक प्रकृति का अधिक है। वह सब प्रकार के वस्तु परक ज्ञान, वस्तु परक मान्यता और स्वनिरपेक्ष विचार को अनुपयोगी मानता है। वह कहता है, 'It is only systematists and objective philosophers, who have ceased to be hnman beings, and have become speculative philosophy in abstract an entity which belongs in the realm of pure being'

•

कीर्केगार्द व्यक्ति के अलगाव की नई व्याख्या करता है। उसके अनुसार आत्मा का या व्यक्ति का समूह में लुप्त हो जाना यह बाहरी अलगाव है। यहां पर कीर्केगार्द हीगल से सहमत है। हीगल के समान वह यह बात मानता है कि अलगाव-मस्तिष्क से ही अलगाव है, लेकिन वह इसके विरुद्ध अमूर्त या सामान्य मस्तिष्क के स्थान पर व्यक्तिगत अलगाव को स्वीकार करता है। मनुष्य की बौद्धिक समानता भी एक प्रकार के अलगाव को प्रकट करती है। लेकिन यहां उसकी व्याख्या कुछ भिन्न है। मनुष्य ने अपनी आत्मा को भुला दिया है, मनुष्य ने मनुष्य होना बन्द कर दिया है और वह धीरे धीरे अमानवीय होता जा रहा है। वह इतना वस्तुपरक हो जायेगा कि वह अब आत्मनिष्ठ हो ही नहीं सकता। वह प्रेतात्मक हो गया है और उसका मूर्त जिन्दा जीवन नष्ट हो गया है। वह अब अस्ति नहीं अनस्ति है और इस रूप में वह इसाई भी नहीं है, यद्यपि बाहरी रूप से वह चर्च जाता हुआ दिखाई देता है।

कीर्केगार्द के अनुसार यह आत्म-विच्छन्नता प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा मे हो रही क्रिया है। लेकिन उसका सम्बन्ध बाहर से नही है। यह एक प्रकार का आन्तरिक संबन्ध है और इसकी स्थिति व्यक्ति के, अपनी आत्मा के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण मे है। इसलिए कीर्केगार्द की आत्म-विच्छन्नता का एक मनोवैज्ञानिक आधार दिखाई देता है। वह इस विच्छन्नता को दुश्चिन्ता (anxiety) के रूप मे वर्णित करता है। दुश्चिन्ता भय से भिन्न है। भय का एक निश्चित कारण होता है, जैसे मुझे साप से डर लगता है। किन्तु दुश्चिन्ता का कोई निश्चित कारण नहीं होता। इसका सबन्ध किसी वस्तु विशेष से नही होता, इसलिए वह अस्पष्ट और आने वाले सकट के आभास पर आधारित रहती है। दुश्चिन्ता मन की होती है। यह दुश्चिन्ता सभी व्यक्तियो मे है, ऐसा कीर्केगार्द मानता है। इस दुश्चिन्ता मे मनुष्य की व्यक्तिपरकता अथवा स्वतत्रता डूब जाती है उसके सामाजिक संबन्ध इस दुश्चिन्ता के कारण विरोधपूर्ण हो जाते हैं। कीर्केगार्द ने अपनी पुस्तक 'The concept of dread' मे दुश्चिन्ता का विशेष विवेचन किया है और इसका सबन्ध आत्मपरकता से बडा गहरा और मनोवैज्ञानिक बनाया है। वह इसकी परिभाषा इस तरह देता है— *जब व्यक्ति किसी बाहरी शक्ति से इतना अधिक भयभीत हो जाता है कि उसे* अपने नाश की सभावना महसूस हो, यह स्थिति ही दुश्चिन्ता है।

अपनी दूसरी पुस्तक 'S ckness unto death' मे वह इस आत्म विच्छन्नता के दूसरे स्तर पर पहुंचा है। यहां पर दुश्चिन्ता गभीर निराशा मे परिवर्तित हो जाती है और यह निराशा मृत्युपर्यन्त रोग है। इस पुस्तक में जो वर्णन है, वह इन्द्रिय-विषय लेखन पद्धति का है। यह व्याख्या परिवर्ती अस्तित्ववादी मनोवैज्ञानिको के लिए आधार रूप रही है। कीर्केगार्द के अनुसार व्यक्ति की अपनी आत्मा के प्रति संबन्धगत असगति से निराशा उत्पन्न होती है। दूसरे शब्दो मे व्यक्ति के आत्मरूप बनने की प्रक्रिया मे जब बाधा उत्पन्न होती है तब निराशा की उत्पत्ति होती है। यह आध्यात्मिक व्यक्ति का एक विशेष प्रकार का रोग है, जो अपने आप से अलग करने के प्रयत्न से ही पैदा होता है। अथवा जो कुछ उसमें शाश्वत है उसकी उपेक्षा से या अपनी आध्यात्मिक प्रवृत्ति को भूल जाने से उत्पन्न होता है। कीर्केगार्द के अनुसार ईश्वर-रहित और आत्माहीन व्यक्ति हमेशा निराशा से आक्रान्त रहता है। इस निराशा के कई रूपो का वर्णन कीर्केगार्द ने किया है। यह निराशा अचेतन स्तर पर भी हो सकती है, जब कि व्यक्ति अपनी इस निराशा की जानकारी नही रखता

प्रकार के व्यक्तिवाद का समर्थक नहीं है । कीर्केगार्द का व्यक्तिवाद धर्म पर आश्रित है । ईश्वर के सम्मुख उसमें क्षुद्रता है, लज्जा है तभी वह सच्चे अर्थों मे व्यक्ति हो सकता है, क्योंकि इन सब भावों का अनुभव व्यक्तिगत है । इससे स्पष्ट होता है कि कीर्केगार्द का व्यक्तिवाद विशिष्ट है । इसको सामान्य और विज्ञान से उत्पन्न मानवतावादी व्यक्तिवाद के रूप मे हमें नहीं समझना चाहिये । इस व्यक्तिवाद का अर्थ है अन्तर्मुखता अर्थात् अपनी ही आत्मा के संसार में बाहरी संसार की अपेक्षा अधिक तल्लीन होना । दूसरे शब्दों मे अपने सच्चे अस्तित्व को प्राप्त करना ।

•

इस अस्तित्व के कीर्केगार्द तीन स्तर मानता है—भोग्य (aesthetic) नैतिक (ethical) और धार्मिक (religious) भोग्य स्तर मे मनुष्य बच्चे के समान जीवन व्यतीत करता है । वह सुख दुख के क्षणों मे जीवित रहता है । भोग्य वस्तु और भोगकर्ता मे सदैव द्वैत रहता है । वह भावना के स्तर पर जिन्दा रहता है । उसके लिए कोई भी वस्तु आनन्ददायक है या दुख दायक है । भोगी व्यक्ति केवल सुखपूर्ण क्षणों मे रहना पसन्द करता है अर्थात् इन्द्रिय सुख ही उसका परम लक्ष्य होता है । ग्रीक चिन्ता धारा मे एपीक्यूरियनिज्म इसी प्रकार का जीवन दर्शन था । कीर्केगार्द मानता है कि भोगी व्यक्ति अन्ततः निराशा मे आक्रान्त रहता है । उसे सुख की परिस्थितियों मे भी दुख की अनुभूति होती है, दुख का आभास रहता है । इसलिए भोगी व्यक्ति ऊब (boredom) से बचने के लिए अपने विषयों मे परिवर्तन करता रहता है । वह पूरी तरह से भौतिक स्तर पर जीवन व्यतीत करता है । कीर्केगार्द इस भोग्य स्तर मे एक बहुत नवीन अर्थ भी देखता है । उसके अनुसार विचारात्मक, दार्शनिक या बौद्धिक भी इसी स्तर पर जीवित रहता है । बौद्धिक व्यक्ति विषयों को निरपेक्षता से देखता है ।

भोगी जीवन का स्वकेन्द्रित दृष्टिकोण कभी भी पूर्ण नहीं होता, क्योंकि वह हमेशा इन्द्रिय स्तर पर जीवित रहता है । इसका मतलब यह नहीं है कि कीर्केगार्द इस अवस्था को पूरी तरह से उपेक्षा-योग्य मानता है । वह यही चाहता है कि यह अवस्था जीवन की दूसरी अवस्थाओं को दबा न दे । यह अवस्था जीवन की समग्रता का एक अवयव है । सभी व्यक्ति इस स्तर पर जिन्दा

किसी न किसी रूप में रहते हैं, इसलिए वह त्याज्य नहीं है। आवश्यक यह है कि इस अवस्था का अतिक्रमण किया जाये। तभी वह सच्चे अर्थ में अस्तित्ववादी हो सकता है। इस अवस्था में मनुष्य सचेतन चुनाव नहीं करता है। उस का चुनाव स्वतन्त्र नहीं होता, वह किसी न किसी प्रकार की प्रवृत्ति या बौद्धिक धारणा से बन्धित होता है। इसलिए सच्चे चुनाव का क्षेत्र नैतिक स्तर है। नैतिक स्तर में व्यक्ति भोग के स्तर को पूरी तरह छोड़ नहीं देता, उसे समाहित करता है, उसे नीति के अनुसार साधता है और इस तरह से उसके भोगी स्तर में या तद्विषयक दृष्टि में एक विरोध उत्पन्न होता है और उस विरोध में ही आईदर/ऑर 'यह वह' की वरणात्मक समस्या उत्पन्न होती है। इस वरण की समस्या का चरम रूप मृत्यु है जिसे हर व्यक्ति नैतिक स्तर पर भोगता रहता है।

यह नैतिक स्तर परम्परागत दार्शनिकों के नैतिक स्तर से भिन्न है। परम्परागत नीतिशास्त्र में भलाई बुराई, उचित अनुचित की धारणाओं का विवेचन अधिक होता है। यह एक प्रकार का औपचारिक विश्लेषण है, जो नीतिसम्बन्धी विचार के स्तर पर ही रहता है, जीवन से इसका कोई सम्बन्ध नहीं होता है। नीतिशास्त्री मूल्यों का या नीति सम्बन्धी धारणाओं का एक पूर्ण सिद्धान्त दे सकता है, लेकिन यह सम्भव है कि जीवन में वह उस सिद्धान्त का पालन न करता हो। विचार और कार्य, धारणा और जीवन में जो विच्छिन्नता हमें हीगल के दर्शन में दिखाई देती है, वही भिन्नता और विच्छिन्नता नीतिशास्त्र में भी दिखाई देती है। इस तरह का नीतिशास्त्र कीर्कगार्द के लिए पूरी तरह अनुपयोगी है। क्योंकि इसमें नीति पूर्ण जीवन अथवा अस्तित्व का विवेचन नहीं होता, केवल नीति सम्बन्धी धारणाओं का विश्लेषण किया जाता है। कीर्कगार्द कहता है कि इस नीति क्षेत्र में मूलभूत चयन अथवा चुनाव अच्छे-बुरे मूल्यों का नहीं है अर्थात् बुरे और भले का चुनाव नहीं है। यह चुनाव बुरे और भले का चुनाव करने में और बुरे और भले का चुनाव नहीं करने में है। इसका मतलब है कि निश्चय का चुनाव करने की [illegible] है और इस [illegible] का सम्बन्ध [illegible] से है, मनुष्य की [illegible] से है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि यह चुनाव, [illegible] और [illegible] का चुनाव है। [illegible] का [illegible] पर आधारित [illegible] के लिए [illegible] है। [illegible] में इस [illegible] का [illegible]।

कीर्कगार्द इस नीति के स्तर को भी संपूर्ण नही मानता है, क्योकि नीति धर्म या कर्त्तव्य मे परिवर्तित हो जाती है। उसकी भी एक व्यवस्था उत्पन्न हो जाती है और साधारण प्रकार की व्यवस्था के उत्पन्न होते ही वह अस्तित्वगत नहीं रहती, विचारात्मक हो जाती है। इसलिए आवश्यक है कि मनुष्य इस नीति के स्तर को छोड कर धार्मिक स्तर मे उड़ान ले। क्योकि इसी क्षेत्र में वह पूरी तरह से जिन्दा रहता है। धार्मिक स्तर मे वह भगवान मे विश्वास करने का वरण करता है और सदैव ईश्वर की उपस्थिति का आभास या अनुभूति उसे होती रहती है। धर्म या श्रद्धा वरण की वस्तु है। यह मनुष्य की स्वभावज प्रकृति नही है। धार्मिक क्षेत्र मे आते ही व्यक्ति के सामने वरण की समस्या मुंह बाये खड़ी रहती है। उसके मन में भय और कंपन अधिक हो जाता है क्योंकि वह सब प्रकार के सामाजिक और नीतिगत विचारो का खडन करने के पश्चात् इस क्षेत्र में प्रविष्ट होता है। उसके मन मे हमेशा यह तनाव बना रहता है कि उसने जो यह चुनाव किया है वह गलत है या सही है। इसलिए वह अनिश्चय की स्थिति मे रहता है। यहां पर उसे नीति के नियमों को ढूंढना पड़ता है, अपनी आंतरिक आवाज के आधार पर उसे व्यक्ति के रूप मे पूरी स्वतत्रता के साथ वरण करना पडता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को जो निर्णय लेना पडता है, वह उसे बहुत ही नम्रता, भय और कंपन से लेना पड़ता है। क्योकि वह अपने निर्णय की सत्यता के बारे मे स्वय आश्वस्त नही रहता है वह अपने धार्मिक स्तर के कारण समाजगत नीति के नियमों का अतिक्रमण करता है। इसी प्रकार वह नीति शास्त्र के नियमों को निलबित करता है। और ऐसी स्थिति मे वह अपने आप से मुकाबला करता है। इस नीति के नियम की अवहेलना का चुनाव बहुत अधिक कठिन और भयावह होता है, क्योंकि अपने चुनाव के लिए बाहरी सामान्य नियमों का आधार वह पीछे छोड देता है। इसलिए व्यक्ति को स्वयं ही निर्णय करना पडता है। ऐसी स्थिति मे वह भगवान के सामने कांपता रहता है और इस तरह से उसके मन मे दुश्चिन्ता, निराशा आदि के भाव उत्पन्न होते हैं। स्पष्ट है कि यहा पर कीर्कगार्द का चिन्तन अपने जीवन की एक घटना से प्रभावित है। वह है रेगीना को छोड़ने की घटना। कीर्कगार्द कभी अपने मन मे पूरी तरह निश्चित नही हो पाया था कि रेगीना को छोड़ने का निर्णय अच्छा था।

धार्मिक होने का मतलब चर्च मे जाना नही है। किसी निश्चित कार्य या किसी निश्चित नियम का पालन करना नही है। धार्मिक होने का मतलब है

मे जन्म लेने से या चर्च में जाने से ही कोई व्यक्ति क्रिश्चियन नही हो जाता। इसलिये क्रिश्चियन होने का मतलब मानव होना अर्थात सजीव स्थिति का अनुभव करना, उसके अनुसार कार्य करना है। संस्थागत धर्म और धर्म विषयक सिद्धान्त से उक्त धर्म का बड़ा विरोध है। कीर्कगार्द समूह धर्म मे विश्वास नही करता और धर्म के वस्तुपरक पक्ष मे भी विश्वास नही करता। कीर्कगार्द के जीवन की मुख्य समस्या यही है, इसी मे कीर्कगार्द का पूरा विचार-तन्त्र घूमता रहा है। कीर्कगार्द ने अपनी पुस्तक 'Concluding unscientific post script' में जो विवेचन किया है, वह विवेचन कीर्कगार्द के पूरे दार्शनिक दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करता है। उस पुस्तक मे प्रस्थापित उसकी मान्यताओं को संक्षेप मे हम इस प्रकार रख सकते है–

(१) सच्चा सारभूत ज्ञान अस्तित्व से सम्बन्धित होता है और केवल वही ज्ञान जिसका अस्तित्व से सारभूत सम्बन्ध है, सारभूत ज्ञान है। इसका अर्थ है कि अस्तित्व की धारणा सारभूत ज्ञान नही है, सजीव अस्तित्व से संबन्धित इन्द्रिय-पद्धति का ज्ञान ही सच्चा सारभूत ज्ञान (essential knowledge) है।

(२) वह पूरा ज्ञान जिसका सम्बन्ध अस्तित्व से नही है और जो केवल विचारों पर आश्रित है असारभूत ज्ञान है।

(३) वस्तुपरक विचार और ज्ञान को आत्मपरक विचार और ज्ञान से अलग समझना चाहिये। वस्तुपरक विचार विषय से अमूर्त वस्तुपरक सत्य (objective truth) की ओर ले जाता है। (जैसे गणित दर्शन और इतिहास का ज्ञान) इस तरह इस क्षेत्र मे अस्तित्व की पूरी तरह अवहेलना होती है। वह अस्तित्व के प्रति उदासीन रहता है।

(४) वस्तुपरक विचार करने की पद्धति वस्तुपरक तथ्य के प्रति उन्मुख है, अर्थात अन्तर और आन्तरिक सत्य के प्रति वह उदासीन रहती है। फलतः यह वस्तुपरकता केवल एक धारणा मात्र होती है सच्चे अस्तित्व का निरूपण नहीं करती।

(५) आन्तरिक ज्ञान मे व्यक्तिगत आत्मसात्करण (appropriation) आवश्यक है। आन्तरिक विचार मे अस्तित्व आत्मसात्कृत रूप मे आता है। इसलिये अपने अस्तित्व का ज्ञान व्यक्ति का स्वकीय

अन्तर्मुखता के द्वारा ही होता है इसलिये आवश्यक है कि व्यक्ति अपने अस्तित्व को पूरी तरह से आन्तरिकता में डुबा दे ।

(६) केवल नैतिक और धार्मिक ज्ञान ही इसलिये सारभूत ज्ञान हैं । क्योंकि उनका ही अस्तित्व से या यथार्थ से सीधा संबन्ध है । उनमें सत्य और अस्तित्व एक साथ रहते हैं ।

(७) सारभूत सत्य आंतरिक है (truth is subjectivity)

इन सिद्धान्तों द्वारा मनुष्य के ज्ञान का फिर से मूल्यांकन होता है । स्पष्ट है कि इस रूप में कीर्केगार्द हीगल का ही विरोध नहीं करता, बल्कि सामान्य रूप से वह विज्ञान का भी विरोध करता है । वैज्ञानिक निष्कर्ष भी कीर्केगार्द के अनुसार सारभूत ज्ञान नहीं है । कीर्केगार्द इसे ज्ञान का मूर्खता पूर्ण संग्रह बताता है । हम किस प्रकार से जीवित रहें, इसके लिये यह आवश्यक है कि हम सारभूत ज्ञान को ही प्राप्त करें । कीर्केगार्द बुद्धि के सत्य और तथ्य (fact) के सत्य के प्राचीन विभाजन को गलत मानता है । क्योंकि ये दोनों ही सच्चे अस्तित्व अर्थात् ईश्वर के सम्मुख व्यक्ति के अस्तित्व की अवहेलना करते हैं। वह चाहता है कि अमूर्त सारभूत ज्ञान से मूर्त सारभूत ज्ञान के प्रति व्यक्ति उन्मुख हो और इस प्रकार बाहर से भीतर, विषय से विषयी की ओर जाये अर्थात् वह आत्मस्थ हो ।

•

इस आन्तरिक ज्ञान का सम्बन्ध अस्तित्व से है इसलिये यह आवश्यक है कि हम अस्तित्व क्या है इसका विचार करें । कीर्केगार्द अस्तित्व को परंपरावादी अर्थ में सार के विरोधी के रूप में स्वीकार नहीं करता है । इस तरह वह सार्त्र की परिभाषा से असहमत लगता है । इसका सम्बन्ध मानवीय अस्तित्व से है, लेकिन यह अस्तित्व हैडेगर के समान सीमित (limit) ही नहीं है। बल्कि कीर्केगार्द के अनुसार यह सीमित और असीमित, नीति और अनीति का सामञ्जस्य है । इस तरह से इसका सबन्ध मनुष्य की वासना, मनुष्य की इच्छा व आत्मा, उसके विचार, उसकी निर्णय-शक्ति, उसके पाप आदि से है अर्थात् सम्पूर्ण मानव से है । इससे यह सिद्ध होता है कि यह अस्तित्व मनुष्य बनने की एक प्रक्रिया है । इसलिये यह गलत होगा कि हम अस्तित्व को

अस्तित्ववादी दर्शन का एक विषय मात्र समझें। इसका सम्बन्ध उस विचार मुद्रा से है, जहां विषय अपने विचार मे engage होना है। विचार ही अस्तित्ववादी के लिये आवश्यक नही है, इसके लिये जीवन आवश्यक है। व्यक्ति को अपने विचार को जानना पड़ता है उसे अपने विचार को आत्मसात् करना पड़ता है अर्थात् विचारो को अपना बनाना पड़ता है, इस तरह कि यह आन्तरिक विचार पूरी तरह से एक प्रक्रिया बन जाये, फल की प्राप्ति के लक्ष्य से रहित जीवन क्रिया मात्र रहे। यही अस्तित्व है।

इसलिये यह बात फिर सामने आती है कि आखिर अस्तित्व कैसा है ? कीर्केगार्द का अस्तित्व मे क्या अर्थ है ? क्या उसका यह सिद्धान्त है कि अस्तित्व आंतरिक है, अर्थात 'होना' नही है ? कीर्केगार्द अस्तित्व की वह व्याख्या नही देता है जो वैज्ञानिक स्वीकार करते है, जो वस्तु-परक है। सचमुच कीर्केगार्द के अस्तित्व का अर्थ वह है जिसे हम सामान्य भाषा मे प्रत्येक दिन प्रयुक्त करते हैं। 'मैं अपने मित्र के प्रति सच्चा हूँ'—इसका अर्थ है कि मैं अपने मित्र के प्रति वफादार हूं। इसलिये कीर्केगार्द का अस्तित्व आत्मा का सच्चा स्वरूप है अपने प्रति ईमानदारी है। इस रूप मे यह अस्तित्व की धारणा का अस्तित्व नही है। मनुष्यों का अस्तित्व है। यह वफादारी केवल सम्बन्धित व्यक्ति की सम्बन्धित व्यक्ति के प्रति नही है, बल्कि असम्बन्धित ईश्वर के प्रति सबन्धित व्यक्ति की ईमानदारी है। स्पष्ट है कि कीर्केगार्द अस्तित्व का धर्माविष्ट अर्थ ग्रहण करता है।

अब हम विचार करें कि कीर्केगार्द के दर्शन मे आज के सदर्भ मे कौन कौनसी बातें ऐसी हैं जो उपयोगी हैं। कीर्केगार्द ने अपने युग का जो निदान किया था, जिस समूह-मनुष्यो की समस्याओं का चित्रण किया गया था वह आज भी वही की वही बनी हुई हैं। बल्कि कुछ थोडी बहुत बढी हैं। दुनिया मे वैज्ञानिक-औद्योगिक विकास, राजनीतिक क्षेत्र मे तानाशाही के विकास, और सामाजिक क्षेत्र में अर्थ की अधीनता और महत्ता की व्याप्ति के कारण आज का मनुष्य धीरे धीरे समूह-मनुष्य बनता जा रहा है। अत अपने व्यक्तित्व या अस्तित्व को भूलता जा रहा है। इसलिये वरण करने की स्वतत्रता को कीर्केगार्द ने जो इतना अधिक महत्व दिया है, वह आज भी उतनी ही महत्वपूर्ण है। उसने जो प्रश्न उठाये है—वे आज भी जीवित हैं। यही कारण है कि आज के जितने भी दार्शनिक सम्प्रदायी हैं वे किसी न किसी रूप से कीर्केगार्द

से प्रेरणा प्राप्त करते रहे हैं। क्योंकि कीर्केगार्द मतवाद, विभिन्नता आदि आधुनिक स्थितियों का ही मनोवैज्ञानिक चित्रण करता है।

कीर्केगार्द के दर्शन में वस्तुपरकता से पूर्ण प्रतिगामिता है। वहां वस्तुपरक सत्य के अस्तित्व के बारे में ही शंका पैदा की गई है। यह बात बुद्धि-विरोधी दिखाई देती है। इसलिए ग्राह्य नहीं है। क्योंकि वस्तुपरक अस्तित्व अपने क्षेत्र में कार्यशील रहता है और इसकी आवश्यकता हमें स्वीकार करनी चाहिये। वैज्ञानिक क्षेत्र में वस्तुपरक सत्य की प्राप्ति करने की गुंजाइश है। वैज्ञानिक निष्कर्ष और वैज्ञानिक आविष्कारों को हम पूरी तरह से छोड़ नहीं सकते। इसी प्रकार बुद्धि का भी हम तिरस्कार नहीं कर सकते क्योंकि बुद्धि हमें व्यवस्था देती है। बुद्धिहीनता अव्यवस्था ही उत्पन्न करेगी जिसका अर्थ होगा मनुष्य सामाजिक न रहकर पूरी तरह से व्यक्तिगत प्रवृत्तियों के आधार पर जीवित रहने लगेगा। एक प्रकार की अराजकता उत्पन्न होगी। इस तरह कीर्केगार्द का दर्शन समाज के संदर्भ में आज अनुपयोगी लगता है।

४

कार्ल यास्पर्स

(Karl Jaspers)

यास्पर्स आधुनिक अस्तित्ववाद का जनक है। यास्पर्स का जीवन बहुविध रहा है। उसने शुरुआत में कानून का अध्ययन किया। फिर तीन वर्ष तक चिकित्सा-विज्ञान के अध्ययन के पश्चात एक मनोरोग चिकित्सालय में सहायक रहा। १९१३ में मनोविज्ञान में व्याख्याता हो गया। और तब से वह विज्ञान के क्षेत्र में ही दर्शन के आचार्य के रूप में कार्य कर रहा है। यास्पर्स के दर्शन में इसीलिए मनोवैज्ञानिक विश्लेषण अधिक प्राप्त होता है। वह असामान्य (abnormal) व्यक्तियों के वर्णन में बेजोड़ रहा है।

यास्पर्स ने भी कीर्केगार्द के समान अपने युग की मानवीय दशा का निदान किया है। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'Man in the Modern World' में वह आधुनिक परिवेश, मनुष्य की स्थिति और उसकी समस्या का बड़ा सटीक वर्णन करता है। यास्पर्स की समस्या हूबहू कीर्केगार्द द्वारा चित्रित समस्या से मेल खाती है। समस्या-व्यक्ति की–विच्छिन्नता और अलगाव (alienation) की है। इस समस्या का मूल कारण तकनीकी युक्तियों की सहायता से योजित उत्पादन (planned production) में जनसाधारण की समाहिति है। जनसाधारण भी योजित उत्पादन का अंग या यंत्र बनता जा रहा है। मनुष्य आधुनिक राज्य की मशीन का एक पुर्जा बन जाने के खतरे में है और इस प्रकार वह अपने स्व, आत्मा और आध्यात्मिक केन्द्र से च्युत हो रहा है। अथवा इसे पूर्णतः भूल रहा है। भीड़ में मनुष्य व्यक्ति की जगह समूह-व्यक्ति (mass-man) बनता जा रहा है। वह अपने प्रामाणिक जीवन को छोड़कर अप्रामाणिक सामान्य जीवन को जी रहा है। वह राज्य के माध्यम के रूप में

परिवर्तित हो रहा है। इसलिए आज के व्यक्ति की अद्वितीयता को खतरा है। वह समूहगत दबाव में अपने व्यक्ति-अस्तित्व को कैसे बनाये रखे, वह 'मनुष्य' कैसे रहे ? यही आज का सबसे बड़ा प्रश्न है। औद्योगिक और तकनीकी उन्नति, राजनीतिक वाद और जीवन में बढ़ती हुई वस्तु-अभिमुखता ने अमानवीकरण (dehumanization) और इन्द्रियवाद को उत्पन्न कर दिया है। ये राक्षस मनुष्य के एकान्त अस्तित्व को दाढ़ों में दबाये हुए हैं। यास्पर्स का समाधान है कि प्रत्येक मनुष्य अपने:ऐतिहासिक सत्त्व—आत्मा—की रक्षा करे, उसे सघनता से प्रतिष्ठित करे। अपने इस समाधान में उसने पूरे दर्शन की परम्परा को सूक्ष्म रूप से समाहित कर लिया है। और इसे एक नया रूप दिया है।

दर्शन के क्षेत्र में यास्पर्स इस धारणा से आगे बढ़ता है कि एक प्रदत्त बाह्य विश्व है, जिसमें चिन्तक स्थित है, जीता है और कार्य करता है. यह विश्व ठोस वस्तुओं द्वारा निर्मित है। ये वस्तुएं व्यक्ति के ज्ञान को अनुशासित करती हैं। यह विज्ञान का विश्व है। यह वस्तुरूप है, क्योंकि यह बोध अथवा अनुभव-गम्य है और इसका सम्प्रेषण के लिए विचारात्मक प्रत्ययभूत प्रतिनिधि प्राप्त किया जा सकता है। अर्थात् इसका वस्तुपरक ज्ञान अथवा विज्ञान प्राप्त किया जा सकता है जो सब लोगों को बौद्धिक स्तर पर ग्राह्य फलतः स्वीकार्य हो सकता है। विज्ञान इस प्रकार बोधगम्य विश्व और मानवीय बोधात्मकता में एक विशेष प्रकार का सम्बन्ध है।

यास्पर्स अस्तित्व (being) के तीन रूप मानता है— १—तत्रास्तित्व (being-there), २—स्वास्तित्व (being-oneself) और ३—स्वतन्त्रास्तित्व (being-in-itself)। तत्रास्तित्व में 'तत्र' के निरूपण से बात स्पष्ट की जा सकती है। * 'तत्र' अर्थात् देशकाल में बद्ध इकाई। फलतः तत्रास्तित्व की देशकालगत स्थिति है। दूसरी बात—'तत्र' तत्र ही है, 'वहाँ' है। इस 'तत्र' की निर्दिष्ट मनुष्य के द्वारा नहीं होती तथा यह 'तत्र' एक दूरी को भी व्यक्त करता है, मानसिक शून्यता, अवसाद, विच्छिन्नता और विरुद्धर्मिता। इसे हम द्वैतात्मक 'द्वन्द्व' भी कह सकते हैं। 'तत्रास्तित्व' में द्वन्द्व के लिए 'स्वास्तित्व' की उपस्थिति अनिवार्य है। अतः तत्रास्तित्व वह है, जो स्वास्तित्व नहीं है

---

* यास्पर्स ने 'तत्र' का निरूपण नहीं किया है। जर्मन भाषा के Dasein शब्द से 'तत्र' का अर्थ मान लिया है। इस समझने के लिए लिया गया है।

या तथास्तित्व वह है, जो तथास्तित्व नहीं है । इस कठिन धारणा की सरल व्याख्या हम यों कर सकते हैं । तथास्तित्व वह अस्तित्व है, जो 'दत्त' है अर्थात् जो प्रदत्त है, जिसका निर्माण मनुष्य की चेतना नहीं करती, किन्तु जिसका अनुभव या बोध उस को उसके द्वारा होता है । यह अनुभवगम्य (empirical) अस्तित्व है । अपनी सुविधा के लिए हम इसे दो रूपों में समझ सकते हैं । इस अस्तित्व-जगत् का एक रूप भौतिक अथवा प्राकृतिक (physical or natural world) है, जहां, वह निरन्तर परिवर्तन और संवर्धन में संलग्न । यह अस्तित्व देशकाल के तथा स्वयं के भौतिक नियमों अथवा प्राकृतिक प्रक्रिया-कार्यकारण परम्परा आदि—से पूर्णतः बद्ध है । कुछ ज्ञात अथवा अज्ञात नियम हैं, जो इसकी स्थिति, गति और प्रकृति के लिए उत्तरदायी हैं । इसे हम शरीर में मनुष्य का भौतिक परिवेश कह सकते हैं । व्यक्ति का शारीरिक अस्तित्व, सामाजिक परिवेश और मानसिक प्रदाय (psychic given-ness) में तथास्तित्व का दूसरा प्रकार परिकल्पित किया जा सकता है । मनुष्य किसी विशेष देश, विशेष समाज, विशेष परिवार और विशेष काल में जन्म लेता है । उसे एक विशेष आकृति वाला शरीर प्राप्त होता है । इस शरीर से सम्बद्ध अनेक शारीरिक और मानसिक तत्त्व (psychic elements) उसे अनायास और अनिच्छित रूप में ग्रहण करने पड़ते हैं । वह इन सब वस्तुओं को छोड़ कर नहीं लेता । मां-बाप, देश और स्वभाव का चुनाव करने की स्वतन्त्रता उसमें इस अवस्था में नहीं है । यह जन्मजात अस्तित्व है । जन्म के समय से 'दत्त' है । अतः 'तथास्तित्व' है ।

इस तरह से मनुष्य भी शरीर-रूप होने के कारण एक प्रकार से 'तथास्तित्व' है । वह तथास्तित्व में रहता है, इसकी अन्य वस्तुओं से सम्बद्ध होता है और उन पर आश्रित भी है । फिर भी वह उनसे बद्ध नहीं है । उसमें कुछ ऐसा है, जो इन सबका अतिक्रम करता है और अपनी स्वतन्त्र सत्ता का निर्माण करता है । सामान्यतः इसे आत्मा (self) या आत्म-चेतना कहता है । इसका प्रमुख धर्म है स्वतन्त्रता । इस स्वतन्त्रता का मतलब तथास्तित्व के कार्य-कारण के क्रम को खंडन करना नहीं है, बल्कि इस कार्य-कारण शृंखला में रहते हुए 'अर्थात् इनको मानते हुए इस बात का साक्षात्कार करना है कि मैं मानसिक अथवा शारीरिक या भौतिक कार्य-कारण में होते हुए भी इसका अतिक्रमण कर सकता हूं । 'मैं केवल कार्य-कारण की शृंखला ही नहीं हूं ।' दूसरे शब्दों में

'मैं' देह (भौतिक अस्तित्व) प्रवृत्ति या विचार (मानसिक अस्तित्व) ही नहीं हूं। तो प्रश्न होता है कि 'मैं' क्या हूं? इसका उत्तर यास्पर्स के अनुसार यह होगा कि 'मैं वह हूं जो मैं चुनता हूं, वरण करता हूं। अर्थात् निश्चय करता हूं।' यह चुनाव-कार्य बिना किसी बाह्य आदेश के सम्पन्न होना चाहिए। अतः इस चुनाव और इस निश्चय के लिए 'मैं' अर्थात् मनुष्य स्वयं उत्तरदायी है। फलतः तथास्तित्व में रहते हुए उसके बन्धनों से मुक्त होकर या उनका अतिक्रम करके स्वतन्त्र वरण-कार्य और तत्सम्बद्ध उत्तरदायित्व का वहन करना स्वास्तित्व (existenz) का धर्म है।

स्वतंत्रास्तित्व (being-in-itself) की धारणा कुछ अधिक सूक्ष्म है। विषय (object) और विषयी (subject) के द्वैत में स्वतन्त्र और अतीत किन्तु उन्हीं में परिव्याप्त एक तत्व है, जिसे यास्पर्स स्वतंत्रास्तित्व कहता है। यह इनसे भिन्न नहीं है। यह द्वैत का समाहार है। भारतीय परम्परा के शब्द का प्रयोग करें तो यह विरुद्धधर्माश्रय है। इसमें सब विरोध समाहित हैं। इसकी अनुभूति स्वास्तित्व-प्राप्त व्यक्ति को ही हो सकती है। इसकी वैचारिक धारणा (concept) नहीं बनाई जा सकती, इसका अनुभव किया जा सकता है। स्वास्तित्व की प्राप्ति के पश्चात् मनुष्य स्वतंत्रास्तित्व के स्तर को अनुभूत करता है। यह वह मौन भाषा है, जो पहेलियों में बोलती है। इन पहेलियों का अर्थ प्रत्येक व्यक्ति प्रत्येक क्षण अपनी सामर्थ्य के अनुसार लगाता रहता है। यह तत्त्व असीम और अबद्ध है किन्तु यह सीमा और बंधन में अभिव्यक्त होता है। अपनी अतिक्रमणशीलता के कारण यह इनसे स्वतन्त्र है। यह विषय और विषयी का आधार है, तन्मय या तदाधृत नहीं। फलतः इसमें स्वायत्तता और आत्मनिर्भरता है। स्पष्ट है कि इस रूप में यह तर्कातीत है, बुद्धि का विषय नहीं हो सकता। यास्पर्स की यह धारणा कान्ट के noumenal world पर आधारित है। कान्ट के अनुसार भी noumenal world का बुद्धि से ज्ञान प्राप्त नहीं किया सकता। यह बुद्ध्यात्मक अंतःस्फुरणा (intellectual insight) का विषय है। कान्ट इस इन्द्रियातीत विश्व के अस्तित्व के विषय में निश्चित है, उनके मन में इसकी उपस्थिति के विषय में कोई शंका नहीं है। इसीलिए वह इसको नीति (ethics) का आधार बनाते हैं। कांट में इसका वस्तुपरक (objective) रूप है। किन्तु यास्पर्स इसके निश्चित सार्वभौम रूप के बारे में शंकित है। यह व्यक्ति-सापेक्ष चेतना के अनुभव का ही विषय है,

फलतः यह अधिक अनिश्चित, अस्पष्ट और आत्म-लक्षी (subjective) बन जाता है।*

•

मनुष्य चरम सत्य (absolute reality) की प्राप्ति करना चाहता है, जिससे कि उसके जीवन की मधुरता, परिवर्तनशीलता, अस्थिरता, संघर्ष आदि अनुपस्थित हो जायें और एक शांति और आनन्दानुभूति उसे प्राप्त हो। इस चरम सत्य की प्राप्ति का एक तरीका विज्ञान है। विज्ञान वस्तुपरक यथार्थ का अध्ययन करता है और विज्ञान-प्रभावित दृष्टि अनुभवगम्य जगत् को ही सत्य का आधार मानकर समस्त मनुष्य-व्यापार अथवा सृष्टि का वस्तुपरक नियमबद्ध यथार्थ खोजना चाहती है। यास्पर्स प्राचीन दार्शनिकों की तरह विज्ञान को अस्वीकार नहीं करता, किन्तु उसकी सीमाएं बताता है। विज्ञान अनुभवगम्य जगत् का अध्ययन सफलता से कर सकता है अर्थात् वह तथास्तित्व का आंशिक वस्तुपरक सत्य (objective reality) प्राप्त कर सकता है। वह वस्तु की समग्रता को नहीं पकड़ सकता। क्योंकि विज्ञान बाह्य अस्तित्व (वस्तु) में अध्ययन शुरू करता है और तज्जन्य निष्कर्षों के आधार पर सामान्यीकरण (generalisation) और सार्वभौमीकरण (universalisation) की प्रक्रिया को अपनाता। फलतः अस्तित्व का आन्तरिक पक्ष (चेतना आदि) का इस दृष्टि से अध्ययन अपूर्ण होता है। इसके अतिरिक्त विज्ञान की निगमन पद्धति सदैव शक्य (probable) तक ही पहुंच पाती है। अतः विज्ञान के निष्कर्ष अनेक क्षेत्रों में अनिश्चित ही होंगे। इन निष्कर्षों के आधार पर सम्पूर्ण विश्व का कोई सगतियुक्त रूप नहीं बनाया जा सकता। क्योंकि विज्ञान की विभिन्न शाखाएं खण्ड-सत्यों की उपलब्धि करती हैं। मानवीय जीवन सम्बन्धी विज्ञान-शाखाएं तो वर्णन मात्र हैं और अपूर्ण हैं। इनमें मानव-जीवन की क्रियमाण सत्ता (active existence) के लिए कोई स्थान नहीं है। इस तरह मानव-जीवन-सम्बद्ध विज्ञान कभी भी पूर्णतः मानव-अस्तित्व का वस्तुपरक यथार्थ (objective reality) नहीं पकड़ सकता। विज्ञान

* तथास्तित्व, स्वास्तित्व और स्वतःअस्तित्व का विवेचन करते समय अनायास भारतीय दर्शन के जगत, आत्मा और परमात्मा के प्रत्यय मन में जागृत होते हैं। किन्तु इनमें सूक्ष्म अन्तर है, जिसका विश्लेषण अधिक ज्ञान, विचार और सामर्थ्य की अपेक्षा रखता है।

प्रतिक्रमी चेतना को क्रमयुक्त विषय बनाकर अध्ययन करना चाहता है। वह प्रयोगशाला में काम कर इसका सार या सूत्र (formula) निकालना चाहता है। यह काफी साहसपूर्ण आकांक्षा है, जो सदैव आकांक्षा ही रहेगी।

विज्ञान एक स्तर की सार्वभौमता (universality) अवश्य प्राप्त करता है, पर वह सृष्टि की एकता और पूर्णता नहीं पा सकता। वह अनुभव-जगत तक सीमित है। इसलिए उसे वहीं तक सीमित रह कर दार्शनिक दृष्टि से कार्य करना चाहिए। स्पष्ट है कि विज्ञान यदि अपनी सीमाओं को स्वीकार कर लेता है तो वह दर्शनाभिमुख हो जायेगा। दर्शन और विज्ञान में जो व्यक्त विरोध है, वह नष्ट हो जायेगा। और इस प्रकार विज्ञान दर्शन के लिए एक आवश्यक आधार का काम करेगा। चूंकि यास्पर्स विज्ञान के विषय (object) (इसी लोक का) अस्तित्व मानता है, इसलिए वह वैज्ञानिक तथ्यों और आविष्कारों को उनके सीमित महत्व के साथ स्वीकार करता है। उसके अनुसार दर्शन विज्ञान से शुरू होता है। फलतः विज्ञान के बिना इसका काम नहीं चल सकता। क्योंकि दर्शन का सम्बन्ध भी उसी जगत से है जो विज्ञान का कार्य क्षेत्र है। दार्शनिक को भी तत्वास्तित्व की सीमा का अतिक्रमण करना है। अतः उसे जानना है और तत्पश्चात् इस जानकारी को समेटते हुए उसे स्वास्तित्व और स्वतंत्रास्तित्व की ओर प्रयाण करना है। यास्पर्स विज्ञान की स्वीकृति द्वारा दर्शन का परम्परागत विषय-विषयी द्वन्द्व का समाधान कर देता है, कीर्कगार्द के समान वह विज्ञान का तिरस्कार नहीं करता और विषयी को ही सर्वप्रमुख नहीं मानता है अर्थात् परम्परागत प्रत्ययवाद (idealism) भी उसे अस्वीकार्य है। दूसरी तरफ वह विज्ञान-जनित प्रकृतिवाद (naturalism) और वस्तुवाद (positivism) का भी विरोध करता है। क्योंकि उनमें आत्मा या चेतना का सम्यक् अध्ययन नहीं होता, उन्हें विकृत (distort) किया जाता है। इस तरह वह दोनों में एक सन्तुलन स्थापित करता है।

•

इस सामान्य परिचय के बाद हम पुनः यास्पर्स के स्वास्तित्व का सूक्ष्म निरीक्षण करें। मनुष्य जब बाहरी संसार की वैज्ञानिक जानकारी प्राप्त कर लेता है और वह जानकारी अस्तित्व को पूर्णतः समझ सकने में उसे अपर्याप्त लगती है तो वह अपने अन्तर्जगत की ओर अभिमुख होता है। यह अन्तर्जगत

उसकी चेतना के प्रति प्रकटित जगत् है, स्वास्तित्व है । यहां उसे नियमबद्धता के स्थान पर स्वतन्त्रता प्राप्त होती है, वह पाता है कि उसे प्रतिक्षण चुनाव करना पड़ता है, जीवन की अनेकानेक विभिन्न परिस्थितियों में उसे अपनी राय बनानी पड़ती है और तदानुकूल कार्यरत होना पड़ता है । ऐसे अवसरों पर मनुष्य 'कुछ नहीं है, किन्तु वह कुछ बन सकता है और उसे बनना चाहिए' की अनुभूति करता है । यह बनने का निश्चय भी एक बार नहीं होता, प्रत्येक क्षण बदली परिस्थितियों के संदर्भ में इसका पुनर्निर्माण किया जाता है । इस तरह चेतना इस कार्य में निरन्तर गतिशील और उड़ान भरती हुई रहती है । अर्थात् यह किसी परिस्थिति और निश्चय से बद्ध नहीं रहती । यह पूर्णतः स्वतन्त्र अर्थात् एकान्त है । क्योंकि स्वास्तित्व की चेतना मूल रूप में पूर्ण स्वतन्त्रता और एकान्तता की चेतना ही है । इस चेतना के जाग्रत होते ही व्यक्ति को सबसे पहली अनुभूति यह होती है कि मैं केवल शरीर (प्रकृति आदि) नागरिक (देश समाज आदि) क्रिया (अनेक-विध विधिनिषेधात्मक कर्तव्य आदि) और चरित्र (character) ही नहीं हूँ । मैं स्वतन्त्र हूँ, इनसे बंधा हुआ नहीं हूँ । जब तक यह अनुभूति नहीं होती तब तक व्यक्ति तथास्तित्व ही रहता है । यह स्वतन्त्रताज्ञान त्रासक (anguish) और आह्लाद (thrill) उत्पन्न करता है । क्योंकि इसमें उसके व्यक्तित्व का ठोस आधार तथास्तित्व (being there) पीछे छूट जाता है अर्थात् व्यक्तित्व के वस्तुपरक पक्षों से वह असम्बद्ध हो जाता है । उसे लगता है कि यह स्वतन्त्रता रिक्त है और यह ही उसके सार (essence) की चेतना है ।

जब व्यक्ति इस चेतना के द्वारा निर्णय करता है और प्रतिज्ञात होता है तो उसका यह चुनाव कार्य पूरी तरह से अस्तित्वगत और निरपेक्ष होता है । इस चुनाव का कोई भी मनोवैज्ञानिक, नैतिक अथवा वैचारिक (Ideal) कारण नहीं ढूंढ़ा जा सकता । यह चुनाव पूर्णतः स्वतन्त्र और किसी अन्य आधार के बिना होता है । इसलिए मार्सल इसे स्वयं को स्वयं के प्रति भेंट मानता है । स्पष्ट है कि मार्सल इस चेतना व्यापार को- देश काल, जाति, परिवार, मनोवैज्ञानिक तत्त्व-इन सबसे मुक्त मानता है । वह स्वीकारता है कि इन सबका चुनाव (choice) व्यक्ति नहीं कर सकता । फिर भी वह इनको स्वीकारने या अस्वीकारने में स्वतन्त्र चुनाव कर सकता है । इसका अर्थ यह है कि वह इनको चेतना की बाधाओं या सीमाओं के रूप में मानता है । चेतना के कार्य का इसमें अर्थ होता उत्तरदायित्वकारी है । व्यक्त

निराशा भी सुनिश्चित है। पर यास्पर्स निराश होकर बैठ जाने अथवा निराशावादी या भाग्यवादी होने के पक्ष में नहीं है। गंभीर निराशा में ही उसके अनुसार स्वतन्त्रास्तित्व से साक्षात्कार होता है। क्योंकि निराशा की स्थिति में ही व्यक्ति एकान्त और आत्मनिर्भर होता है अर्थात् स्वतन्त्र होता है। इस तरह निराशा स्वास्तित्व-प्राप्त व्यक्ति की चेतना को बांधती नहीं, केवल छूती है और उसकी स्वतन्त्र उड़ान के नीचे या पीछे छूट जाती है।

इस निराशा से सम्बद्ध वे परिस्थितियां हैं, जिन्हें यास्पर्स सीमा-परिस्थितियां (limit-situations) कहता है। प्रत्येक व्यक्ति के तत्रास्तित्वी परिवेश में उसकी स्वतन्त्रता को सीमित करने वाली कुछ सीमा-परिस्थितियां अनिवार्यतः होती हैं, जैसे मृत्यु, संघर्ष, दोष-कारिता, पीड़ा आदि। इनसे असुरक्षा, भय, निराशा आदि अनेक स्वतन्त्रताबाधक भाव उत्पन्न होते हैं। इनसे पलायन करना या इन्हें ही चरम सत्य अथवा अन्तिम सीमा मान लेना अप्रामाणिकता है, रोमांसवाद या भाग्यवाद है। वस्तुतः ये परिस्थितियां ही वे सीमारेखा हैं, जहां पर स्वतन्त्रास्तित्व से साक्षात्कार होता है। अतः यह आवश्यक है कि इनसे पलायन न कर इन्हें समाहित किया जाये, इन्हें जीवन का अंग मानकर आत्मसात् किया जाये। सबसे भयानक परिस्थिति मृत्यु है। मृत्यु और जीवन में विरोध मानना, उनका परस्पर संघर्ष स्वीकारना तत्रास्तित्व के क्षेत्र की वस्तु है। क्योंकि उसी क्षेत्र में—बाह्य रूप में—एक क्रिया की समाप्ति मृत्यु द्वारा होती हुई परिलक्षित होती है। स्वास्तित्व के क्षेत्र व्यक्तिचेतना में इनमें विरोध नहीं होता, बल्कि तत्रास्तित्व की स्वाभाविक परिणति मृत्यु बन जाती है। मृत्यु के क्षण शरीर मरता है किन्तु चेतना की स्वतन्त्रता नहीं मरती, उसकी क्रिया चालू रहती है। इससे यह अर्थ नहीं निकालना चाहिए कि यास्पर्स किसी अन्य लोक की कल्पना करता है या चेतना के परम्परागत शाश्वत अमर रूप में विश्वास करता है। उसका मन्तव्य कुछ सूक्ष्म है और वह इतना ही है कि चेतना द्वारा सर्जित कुछ मूल्य, कुछ निर्णय ऐसे हैं, जो मर्त्य नहीं हैं। उनमें कुछ अमर्त्य महत्व का है, जो इसी मृत्यु की सीमा-रेखा का अतिक्रमण कर जाता है और स्वतंत्रास्तित्व से साक्षात्कृत हो जाता है।

मनुष्य मरता है अर्थात् वह मर्त्य, अपूर्ण और सीमित (finite) है। इस सीमा, अपूर्णता के कारण ही उसे सामाजिक, आर्थिक या राजनीतिक संघर्षों में भाग लेना पड़ता है, यहां चुनाव करना पड़ता है। यह सामाजिक स्तर का

का चुनाव अपराधीभाव (guilt) उत्पन्न करता है । क्योंकि चुनाव करते ही वह बहुतसी अन्य बातों, अन्य सम्बन्धों, अन्य रास्तों और अन्य विकल्पों से अलग (exclusion) होता है । इस तरह हर सम्बन्ध (relation) का चुनाव किसी अन्य सम्बन्ध की सम्भाव्यता के मूल्य पर होता है । 'मैं ऐसा भी कर सकता था' अथवा 'मैं ऐसा क्यों नहीं करूं' के तनाव से अपराध-भावना उपजती है । यह मनुष्य की स्वतंत्रता के लिए दूसरी सीमा-परिस्थिति है, जो चेतना के स्वतंत्र कार्य को बाधित करती है । यास्पर्स इस अपराध-भावना को अ-निवार्य मानता है, किन्तु इसे अनिवार्य बन्धन नहीं स्वीकार करता । व्यक्ति को अपनी प्रामाणिकता की अर्थात् स्वतंत्रता की रक्षा के लिए इस अपराध का उत्तरदायित्व वहन करना चाहिए । साधारणतः लोग दूसरों को या परिस्थितियों को दोष देकर इस अपराध से मुक्त होना चाहते हैं । यह अप्रामाणिक जीवन है । क्योंकि इसके द्वारा वे बुराई या अपराध को दूसरों के मत्थे मढते ही नहीं, उसके निराकरण की जिम्मेदारी भी उन्हीं की मानते हैं । अपराध का उत्तरदायित्व लेते ही अपराध-निवारण का कर्त्तव्य भी उसी व्यक्ति का हो जाता है । इस प्रकार स्वतंत्र-कार्य के लिए अपराध बाधक नहीं, उद्दीपक है ।

मनुष्य की दूसरी सीमा-परिस्थिति देश काल गत है, जिसे इतिहास (history) कहा जाता है । यास्पर्स के अनुसार स्वास्तित्व अथवा चेतना इतिहासातीत नहीं है । चूंकि मनुष्य का मस्तिष्क सार्वभौम और सार्वकालिक (universal) नहीं है, इसलिए वह इतिहासगत या इतिहासबद्ध है । यह इतिहासगतता भी स्वतंत्रता प्राप्ति के लिए अपराध-भावना आदि के समान आवश्यक है । मनुष्य पूर्णत तत्रास्तित्व में स्थित है, अतः वह इतिहास निरपेक्ष नहीं हो सकता । एक विशेष देश और एक विशेष काल में जनमता है और एक विशेष देश और एक विशेष काल में वह मर जाता है । वह इस 'विशेष' (अर्थात् इतिहास) से मुक्त नहीं होता, किन्तु वह इस 'विशेष' से बद्ध भी नहीं होता, बल्कि इससे घनिष्ठत संयुक्त होकर संघर्ष, पीड़ा और सर्जना के द्वारा इसका निर्माण करता है । इस इतिहास की परिसीमा में तत्रास्तित्वगत समाज, राज्य, धर्म, व्यक्तिगत सम्बन्ध आदि सब कुछ समाहित है । राज्य के प्रति यास्पर्स के दृष्टिकोण से इस बात को समझा जा सकता है । राज्य व्यक्ति की स्वतंत्रता के लिए आधारभूत है और साथ ही साथ यह उसकी स्वतंत्रता को बाधता भी है । राज्य के बन्धन का अतिक्रमण करना साधारण व्यक्ति के लिए बड़ा कठिन कार्य है । क्योंकि राज्य व्यक्तिगत

प्रभुता और शक्ति न होकर व्यक्तियों की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधि होगा है। इसके महान् आदर्श होते है और इन आदर्शों के अनुरूप व्यक्ति के लिए कर्त्तव्यों का विधान भी यह करता है। अतः व्यक्ति आसानी से इस आदर्श-कर्त्तव्य की महानता की मानसिक सीमा (limit) से परे नहीं रह सकता। फिर भी व्यक्ति को इसमे रहकर ही इसके उद्देश्यों, आदर्शों और नीतियों की आलोचना करना चाहिए और तत्सम्बद्ध सुझाव देना चाहिए। राज्य का सत्य पूर्व-प्राप्त या सर्वोपरि नहीं होता। उस सत्य का निर्माण कहीं न कहीं ज्ञात या अज्ञात रूप में व्यक्ति चेतना ही करती है। इसलिए राज्य के कानून व्यक्तिगत निर्णय को प्रबुद्ध कर सकते हैं, उसकी न्याय-संगति (justification) नहीं दे सकते और इसी प्रकार वे व्यक्ति के स्वतन्त्र-कार्यों को कोई मूल्य या अर्थ नहीं प्रदान करते, बल्कि मूल्य और अर्थ की निर्मिति के लिए उद्दीपन, क्षेत्र और अवसर दे सकते हैं। फलतः राज्य व्यक्ति के लिए अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए आवश्यक है। राज्य इस स्वास्तित्व (स्वतन्त्र) सम्पन्न व्यक्ति के निर्णयों में अपनी सच्चाई पाता है। इस तरह राज्य और व्यक्ति में उत्पादक तनाव सदैव रहता है। इसलिए यास्पर्स राजनीति में भाग लेना स्वास्तित्व के लिए आवश्यक मानता है, आजकल की तानाशाही या समूहवादी राज्य व्यवस्थाओं में तो यह कार्य अनिवार्य है।

ये राज्यादि व्यवस्थाएं व्यक्ति की इतिहासगतता के माध्यम हैं। मनुष्य इस प्रकार इतिहास मे जीवन सम्बन्धी अर्थ या मूल्य प्राप्त नहीं करता, बल्कि अपने कार्यों की महत्ता ऐतिहासिक क्रम मे स्थापित करता है। इस तरह वह मानव-जीवन की निरन्तर गति में सहायक होता है। स्पष्ट है, यास्पर्स का यह इतिहास वस्तुपरक घटना-वर्णन नहीं है और न वह हीगल और मार्क्स के समान नियतिवादी (deterministic) है। इतिहास वह गतिशील नैरन्तर्य है, जो व्यक्ति-चेतना के लिए क्षेत्र प्रस्तुत करता है और उस चेतना के कार्यों द्वारा प्रभावित और पुनर्संस्कृत होता रहता है। इस प्रकार वह स्वास्तित्व का सहायक सिद्ध होता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है यास्पर्स के स्वास्तित्व के स्तर में सीमा-परिस्थितिगत सब कर्त्तव्य समाहित हैं। इसमें कर्त्तव्य के लिए स्थान है, निश्चित कर्त्तव्य की स्वीकृति नहीं है। कर्त्तव्यों के निर्माण या पुनर्संस्कार को महत्त्वपूर्ण माना गया है। यास्पर्स न तो रहस्यवादियों (mystics) के समान संसार और

इतिहास (तथास्तित्व) निरपेक्ष निवृत्तिपरक प्रतर्मुखता की सचाई में विश्वास करता है और न वस्तुवादी दार्शनिकों की पूर्ण प्रवृत्ति या वस्तुवाद (position) में। वह इन दोनों को प्रस्तित्ववादी ढग से समन्वित करता है ।

•

दूसरे से संबंध-विधान या सम्प्रेषण समस्या की सब अस्तित्ववादियों की प्रमुख समस्या रही है। यह समस्या वैसे तो काफी पुरानी है, पर आधुनिक काल में वैज्ञानिक, यांत्रिक, सैद्धान्तिक और औद्योगिक उन्नति के कारण यह और भी विकराल हो गई है। व्यक्ति अधिक से अधिक सकीर्ण और कीर्केगार्द की भाषा में स्ववद्ध (shut-up) होता जा रहा है। यास्पर्स भी इस समस्या का गंभीरता से विवेचन करता है। उसके अनुसार स्वास्तित्व-प्राप्त व्यक्ति का अन्य स्वास्तित्व-प्राप्त व्यक्तियों से सम्प्रेषण होना अनिवार्य है। 'सम्प्रेषण' (communication) को वह विशेष अर्थ में प्रयुक्त करता है। इस सम्प्रेषण में दोनों की (स्वयं की और दूसरे की) अद्वितीयता और स्वतन्त्रता अप्रभावित रहती है, इनकी परस्पर स्वीकृति आवश्यक है। इसी आधार पर दोनों में सम्बन्ध विधान होना चाहिए। यह कैसे सम्भव हो सकता है? यास्पर्स का उत्तर है 'मैं यह अभिलाषा करता हूं, प्रत्येक दूसरा भी—मैं जो कुछ होना चाहता हूं—वैसे ही वह भी कुछ पूर्ण ईमानदारी और सच्चाई के साथ होगा।' स्पष्ट है कि यहां पराधिकार नहीं, स्वाधिकार और अन्याधिकार दोनों की पहचान और स्वीकरण आवश्यक है। अतः सम्प्रेषण के लिए रीतिरिवाज, धारणाएं, संस्कार, सभ्यता, धर्म आदि के बन्धनों से मुक्ति होनी चाहिए और व्यक्ति को दूसरे के सामने अपने सच्चे स्व-रूप में आना चाहिए। व्यक्ति में यह खुलापन (openness) होना सम्प्रेषण के लिए आधारभूत है। इस तरह सम्प्रेषण समान में सहयोग नहीं है, बल्कि एकाकी (singularity) प्रामाणिकता की पहचान और स्वीकृति है। इस तरह यह सम्प्रेषण संघर्ष का रूप ले सकता है पर यह 'प्रेमपूर्ण संघर्ष' (loving struggle) होगा। क्योंकि इस संघर्ष में खुलापन होने के कारण अन्य सामाजिक वृत्तियां (स्वार्थ आदि) नहीं आ सकेंगी। यह सम्प्रेषण प्रत्येक व्यक्ति के स्वास्तित्व को एक नवीन और गंभीर रूप देता रहेगा। क्योंकि दूसरे का स्वास्तित्व इसके लिए संशोधक (corrective) सिद्ध होगा। यह सम्प्रेषण सदैव 'मैं—तू' के परिप्रेक्ष्य में क्रियाशील रहना

प्रभुता और शक्ति न होकर व्यक्तियों की सामूहिक इच्छा का प्रतिनिधि होता है। इसके महान् आदर्श होते हैं और इन आदर्शों के अनुरूप व्यक्ति के लिए कर्तव्यों का विधान भी यह करता है। अतः व्यक्ति समाज में इस आदर्श-कर्तव्य की महानता की तात्विक सीमा (limit) से परे नहीं रह सकता। फिर भी व्यक्ति को इसमें रहकर ही इसके उद्देश्यों, आदर्शों और नीतियों की आलोचना करना चाहिए और रचनात्मक सुझाव देना चाहिए। राज्य का मत पूर्ण-प्राण या सर्वोपरि नहीं होता। उस मत का निर्माण कहीं न कहीं ज्ञात या अज्ञात रूप में व्यक्ति चेतना ही करती है। इसलिए राज्य के कानून व्यक्तिगत निर्णय को प्रबुद्ध कर सकते हैं, उसकी न्याय-संगति (justification) नहीं दे सकते और इसी प्रकार वे व्यक्ति के स्वतन्त्र-कार्यों को कोई मूल्य या अर्थ नहीं प्रदान करते, बल्कि मूल्य और अर्थ की निर्मिति के लिए उद्दीपन, क्षेत्र और अवसर दे सकते हैं। फलतः राज्य व्यक्ति के लिए अपनी स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए आवश्यक है। राज्य इस स्वास्तित्व (स्वतन्त्र) सम्पन्न व्यक्ति के निर्णयों से अपनी सच्चाई पाता है। इस तरह राज्य और व्यक्ति में उत्पादक तनाव सदैव रहता है। इसलिए यास्पर्स राजनीति में भाग लेना स्वास्तित्व के लिए आवश्यक मानता है, आजकल की तानाशाही या समूहवादी राज्य व्यवस्थाओं में तो यह कार्य अनिवार्य है।

ये राज्यादि व्यवस्थाएं व्यक्ति की इतिहाससगनता के माध्यम हैं। मनुष्य इस प्रकार इतिहास से जीवन सम्बन्धी अर्थ या मूल्य प्राप्त नहीं करता, बल्कि अपने कार्यों की महत्ता ऐतिहासिक क्रम में स्थापित करता है। इस तरह वह मानव-जीवन की निरन्तर गति में सहायक होता है। स्पष्ट है, यास्पर्स का यह इतिहास वस्तुपरक घटना-वर्णन नहीं है और न वह हीगल और मार्क्स के समान नियतिवादी (deterministic) है। इतिहास वह गतिशील नैरन्तर्य है, जो व्यक्ति-चेतना के लिए क्षेत्र प्रस्तुत करता है और उस चेतना के कार्यों द्वारा प्रभावित और पुनर्संस्कृत होता रहता है। इस प्रकार वह स्वास्तित्व का सहायक सिद्ध होता है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है यास्पर्स के स्वास्तित्व के स्तर में सीमा-परिस्थितिगत सब कर्तव्य समाहित हैं। इसमें कर्तव्य के लिए स्थान है, निश्चित कर्तव्य की स्वीकृति नहीं है। कर्तव्यों के निर्माण या पुनर्संस्कार को महत्वपूर्ण माना गया है। यास्पर्स न तो रहस्यवादियों (mystics) के समान संसार और

इतिहास (तत्रास्तित्व) निरपेक्ष निवृत्तिपरक अन्तर्मुखता की सचाई मे विश्वास करता है और न वस्तुवादी दार्शनिकों की पूर्ण प्रवृत्ति या वस्तुवाद (position(में। वह इन दोनों को अस्तित्ववादी ढंग से समन्वित करता है ।

•

दूसरे से संबंध-विधान या सम्प्रेषण समस्या की सब अस्तित्ववादियों की प्रमुख समस्या रही है। यह समस्या वैसे तो काफी पुरानी है, पर आधुनिक काल मे वैज्ञानिक, यांत्रिक, सैद्धान्तिक और औद्योगिक उन्नति के कारण यह और भी विकराल हो गई है। व्यक्ति अधिक से अधिक सकीर्ण और कीर्केगार्द की भाषा मे स्वबद्ध (shut-up) होता जा रहा है। यास्पर्स भी इस समस्या का गंभीरता से विवेचन करता है। उसके अनुसार स्वास्तित्व-प्राप्त व्यक्ति का अन्य स्वास्तित्व-प्राप्त व्यक्तियों से सम्प्रेषण होना अनिवार्य है। 'सम्प्रेषण' (communication) को वह विशेष अर्थ में प्रयुक्त करता है। इस सम्प्रेषण में दोनों की (स्वयं की और दूसरे की) अद्वितीयता और स्वतंत्रता अप्रभावित रहती है, इनकी परस्पर स्वीकृति आवश्यक है। इसी आधार पर दोनो मे सम्बन्ध विधान होना चाहिए। यह कैसे संभव हो सकता है? यास्पर्स का उत्तर है 'मैं यह अभिलाषा करता हूं, प्रत्येक दूसरा भी—मैं जो कुछ होना चाहता हूं—वैसे ही वह भी कुछ पूर्ण ईमानदारी और सच्चाई के साथ होगा।' स्पष्ट है कि यहां पराधिकार नहीं, स्वाधिकार और अन्याधिकार दोनों की पहचान और स्वीकरण आवश्यक है। अतः सम्प्रेषण के लिए रीतिरिवाज, धारणाएं, संस्कार, सभ्यता, धर्म आदि के बन्धनों से मुक्ति होनी चाहिए और व्यक्ति को दूसरे के सामने अपने सच्चे स्व-रूप में आना चाहिए। व्यक्ति मे यह खुलापन (openness) होना सम्प्रेषण के लिए आधारभूत है। इस तरह सम्प्रेषण समान में सहयोग नहीं है, बल्कि एकाकी (singularity) प्रामाणिकता की पहचान और स्वीकृति है। इस तरह यह सम्प्रेषण संघर्ष का रूप ले सकता है पर यह 'प्रेमपूर्ण संघर्ष' (loving struggle) होगा। क्योंकि इस संघर्ष मे खुलापन होने के कारण अन्य तामसिक वृत्तियां (स्वार्थ आदि) नहीं आ सकेंगी। यह सम्प्रेषण प्रत्येक व्यक्ति के स्वास्तित्व को एक नवीन और गंभीर रूप देता रहेगा। क्योंकि दूसरे का स्वास्तित्व इनके लिए संशोधक (corrective) सिद्ध होगा। यह सम्प्रेषण सदैव 'मैं–तू' के परिवृत्त में क्रियाशील रहता

है। बुद्धि से सम्प्रेषण नहीं हो सकता। क्योंकि बुद्धि 'मैं' की सत्ता से प्रारम्भ होती है और 'तू' को वस्तुरूप (object) दे देती है। उसकी चेतन सत्ता की अद्वितीयता को अस्वीकृत करने का प्रयास करती है या उसे विकृत (distort) करती है। केवल प्रेम-ही जो 'विस्तार की परम चेतना' या भूमा है– इस सम्प्रेषण का आधार हो सकता है। स्पष्ट है कि यह 'प्रेम' सर्वसुलभ संवेदनात्मक या भावुकतापूर्ण नहीं है, बल्कि उदारतापूर्ण सद्भाव है।

•

अब स्वतंत्रास्तित्व (being-in-itself) की ओर ध्यान दें। जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, स्वतन्त्रास्तित्व की परिभाषा नहीं दी जा सकती, उसे 'जाना' नहीं जा सकता। न तो यह वस्तुनिष्ठ ज्ञान की पकड़ में आता है और न आत्मनिष्ठ सूझ ही उसे छू सकती है। तो फिर उसकी सत्ता का प्रमाण क्या है? यास्पर्स के अनुसार जगत् की अपूर्णता, सीमा और क्षण-भंगुरता ही स्वतन्त्रास्तित्व (पूर्णता, असीमा और शाश्वतता) का प्रमाण है। हम इसी जगत् के माध्यम से उसकी खोज करते हैं। उसे पाने या पकड़ने की चेष्टा निरर्थक है।

यास्पर्स स्वतन्त्रास्तित्व की सत्ता की सिद्धि 'नेति-नेति' ढंग से करता है। वस्तुनिष्ठ दृष्टि से हम प्रत्यक्ष वस्तु की सीमा, कारण, गुणमात्रा आदि का विश्लेषण करते हैं और अन्त में पाते हैं कि अन्तिम सत्ता यही नहीं है। निषेध के माध्यम से हम इन सब प्रभेदों (categories) के पूर्व और अतीत का विचार करते हैं अर्थात् अन्तिम सत्ता (स्वतन्त्रास्तित्व) को मानते हैं। इस प्रकार प्रत्येक वस्तुगत धारणा की स्थापना कर उसकी कमियों को अंकित करते हुए हम उसका निषेध करते हैं। परिणामस्वरूप हमें स्वतन्त्रास्तित्व की झांकी प्राप्त होती है। इसका फल यह होता है कि हम सत्तास्तित्व (जिसके माध्यम से स्वतन्त्रास्तित्व प्रकट होता है) और स्वतन्त्रास्तित्व में अन्तर अनुभव करने लगते हैं। स्पष्ट है कि यह स्वतन्त्रास्तित्व यद्यपि सब सीमित सत्ता से अतीत या अनिर्वचनीय है, तो भी यह सीमा-स्थितियों के माध्यम से ही [illegible] का अनुभव किया जा सकता है। मनुष्य की दृष्टि में यह 'परम अस्तित्व ईश्वर' है या स्वतन्त्र अस्तित्व का [illegible] है। यह [illegible] प्रकाश और अन्धकार, निरपेक्ष और सापेक्ष [illegible] का आधार भी यही है। [illegible] यह [illegible] है कि [illegible] माध्यम से इसकी खोज की जाय। इस

दोनों के तनाव को सम्भालने के लिए 'साहसमयश्रद्धा' (courageous faith) या 'दार्शनिक श्रद्धा' की अनिवार्यता है। *

स्वास्तित्व का इससे क्या सम्बन्ध है? स्वास्तित्व प्राप्त व्यक्ति स्वतन्त्र होता है, पर आत्मनिर्भर नहीं होता। वह तत्रास्तित्व (सीमित वस्तु अर्थात् जगत् पर) आश्रित है, क्योंकि उसी के 'माध्यम' से उसका स्वास्तित्व जागृत होता है। दूसरी ओर वह स्वतंत्रास्तित्व पर भी आश्रित है, क्योंकि उसकी स्वतंत्रता का आधार और निदेश स्वतन्त्रास्तित्व है। इसका यह अर्थ हुआ कि व्यक्ति (स्वास्तित्व) जगत् (तत्रास्तित्व) के 'माध्यम' से ही अन्तिम सत्ता (स्वतंत्रास्तित्व) से सम्बद्ध हो सकता है। यह जगत् माध्यम कैसे बनता है? यहां रहस्यवादियों के सर्वात्मवाद और वैज्ञानिक वस्तुवाद से बचने और अपने सिद्धान्त को शुद्ध दार्शनिक रूप देने के लिए यास्पर्स बिन्दु या 'वृत्त' (cipher) का उदाहरण देता है। जगत् या तत्रास्तित्व या तत्सम्बद्ध, तदाश्रित या तद्भव सीमा-घटनाएं स्वतन्त्र चेतना (स्वास्तित्व) के लिए बिन्दुवत् हैं। एक तरफ घटना रूप में स्थूल हैं, किन्तु दूसरी तरह प्रतीकात्मक ढंग से घटनातीत स्वतंत्रास्तित्व की ओर संकेत कर रहे होते हैं। व्यक्ति को इन बिन्दुओं का अर्थ लगाना होता है। यह अर्थ बुद्धिगत वस्तुनिष्ठता से नहीं लग सकता, क्योंकि बिन्दु का प्रतीक बुद्धिगम्य नहीं है। बिन्दु सामान्य प्रतीक नहीं है, वह स्वतः प्रमाणित है। सामान्य प्रतीक किसी दूसरी सीमा घटना को व्यंजित करता है, जिसे प्रतीकात्मक अर्थात् बौद्धिक रीति से पकड़ा जा सकता है। इसलिए बिन्दु को विज्ञान-ज्ञान से नहीं समझा जा सकता। इसका अर्थ केवल स्वतन्त्र निर्णय के माध्यम से ही खोजा जा सकता है। उसमें निहित स्वातन्त्र्यास्तित्व के संदेश को 'सजीव सहजानुभूति' (concrete intution) से ही समझा जा सकता है। ● ये बिन्दु सब व्यक्तियों के

---

* श्रद्धा का 'साहसमय' या 'दार्शनिक' विशेषण भावुकता और पूर्वाग्रह की अन्धता की रहितता की ओर संकेत करते हैं। 'द्वन्द्व' को सम्भाले रखने के लिए निराशा की स्थिति से गुजरना पड़ता है, जो सामान्य श्रद्धा का सह कर सकती है।

● 'I live with the ciphers. I donot understand them but I steep myself in them. All their truth lies in the concrete intution which fills them in a manner each time historical'.

लिए अलग अर्थ देते हैं अर्थात् इनका व्यक्तिगत अर्थ होता है। इसके अतिरिक्त 'बिन्दु' चूंकि इतिहासक्रम में घटित होते हैं, अतः कोई एक बिन्दु अन्तिम नहीं होता। फलतः एक बिन्दु का अर्थ उसी 'बिन्दु' तक सीमित है। यास्पर्स के इस 'बिन्दु' की परिसीमा में प्रकृति-व्यापार, इतिहासगणना, व्यक्ति-अस्तित्व आदि सब कुछ समाहित है। मेरा जीवन मेरा सबसे बड़ा 'बिन्दु' है। जिसका अर्थ मुझे खोजना है—यही स्वतंत्रता है। मेरी सफलताएं, निराशा, कार्य निर्णय सब कुछ बिन्दु हैं, जिनमें मैं स्वतन्त्रास्तित्व के अर्थ को छूता हूं, अनुभव करता हूं। किन्तु यह अर्थ वस्तुगत (positive), है, फलतः स्थिर है। अतः अन्तिम नहीं है।

(इस 'बिन्दु' के द्वारा यास्पर्स क्या कहना चाहता है ? मेरा अपना अनुमान है कि वह शायद भौतिक, मानसिक, समाजिक आदि अनेक-विध घटनाओं की वस्तुनिष्ठ जानकारी की सम्पूर्णता की असंभावना बताना है और फलतः उस सम्पूर्णता को प्रति सहजानुभूति के द्वारा वह खोजता है। सहजानुभूति चूंकि व्यक्तिगत अनुभूति होती है, अतः उसका सार्वभौम बुद्धिग्राह्य अस्तित्व असंभव है। इसलिए यह सम्पूर्णता व्यक्तिगत ही होगी है। घटनाओं के क्रम और विभिन्नता के कारण ये सहाजानुभूतियां भी अनेक, और असीम (सम्पूर्णता) की सीमितकालाश्रित झांकी मात्र होती हैं।)

अन्तिम बिन्दु यास्पर्स के अनुसार पूर्णतः नकारात्मक (negative) है। 'अन्त जलयान-विस्फोट है।' • सम्भवतः वह ऐसी स्थिति है, जहां कोई बिन्दु नहीं पैदा होता और इसी के सन्दर्भ में और मान से सब 'बिन्दु' परीक्षित किये जाते हैं। यह 'जल्यान-विस्फोट' पूर्णतः निराधार है। अतिक्रमी अतिम सत्ता (transcendence) को पाने के सब परिगम (approaches) टूट जाते हैं। इतिहास के बुद्धिगम्य रूप को निर्मित करने के सब प्रयत्न घटनाओं में बिखर जाते हैं। और स्वास्तित्वगत स्वतन्त्रता स्वयं की विरोधी हो जाती है। धार्मिक जिज्ञासा भी शान्त और शून्य बन जाती है। यह ऐसी स्थिति है जबकि व्यक्ति का अन्तर टूट पड़ता है, और वह पूर्ण एकान्त और निराशा में डूब जाता है। कोई भी दार्शनिक और धार्मिक मन उसकी सहायता नहीं कर सकता। उसके भीतर कुछ होना चाहिए, पर कुछ भी नहीं होता—इस

• 'The ultimate is ship wreck. The non-being of all that is accessible to us, that non-being which reveals itself in ship wreck, is the bei[illegible] of tra[illegible]cendence.'

अजीब संकटग्रस्त अस्तित्व की अनुभूति से स्वतन्त्रास्तित्व और हम में अन्तर की अनुभूति जागती है। दूसरे शब्दों में हम स्वतंत्रास्तित्व को, उसकी पूर्णता को अनुभव करते हैं। फलत: हमें प्रतीत होता है कि सब सुलभ वस्तुओं का अनस्तित्व (non-being) ही, जो 'जलयान-विस्फोट' के क्षण प्रकट (reveal) होता है, अतिक्रमी सत्ता का अस्तित्व है। इस तरह व्यक्ति को स्वतन्त्रास्तित्व से सम्बद्ध होने के लिए 'जलयान-विस्फोट' अर्थात् निराशा और दुश्चिन्ता के दौर से गुजरना होता है और साथ ही साथ उसे साहसमय श्रद्धा और आशा को संभालना पड़ता है, सब सांसारिक-आशाओं को त्यागना होता है, सब भ्रमों से मुक्ति पानी होती है, तब व्यक्ति में एक नवीन प्रकार की शक्ति उत्पन्न होती है, जिससे हम स्वतंत्रास्तित्व का अनुभव-समर्थन (affirmation) कर सकते हैं। उसमें 'स्वतंत्रास्तित्व है' का दृढ़ विश्वास हो उठता है। (यास्पर्स शायद इस शुद्ध 'अपूर्णता' की स्थिति की अनुभूति द्वारा शुद्ध 'सम्पूर्णता' की अनुभूति उपजाना चाहता है। 'कुछ नहीं' से 'कहीं सब कुछ' की उपस्थिति का आभास मनोविज्ञान-सम्मत है।)

तो क्या व्यक्ति इस 'जलयान-विस्फोट' की कामना करे ? यास्पर्स फ्रायड की 'मृत्यु कामना सिद्धान्त' को अस्वीकार करता है। व्यक्ति इस 'विस्फोट' को हटाने का अथक परिश्रम करता है, वह इससे संघर्ष करता है और यह पहचानता भी है कि इससे बचा नहीं जा सकता। कामू के समान यास्पर्स भी चाहता है कि व्यक्ति कार्य, जीवन, मूल्य आदि की निरर्थकता, विनाशशीलता को जानते हुए भी कार्यरत (engaged) रहे।

●

ऊपर हमने देखा कि व्यक्ति के सब निर्णय या चुनाव की क्रिया क्षणोद्भव होती है। 'जलयान-विस्फोट' सदैव नहीं रहता, जीवन का एक क्षण है। इसलिए आवश्यक है कि हम यास्पर्स के क्षण सम्बद्ध विचारों को भी जानें। *'क्षण' सामयिक (temporal) और शाश्वत (eternal) को जोड़ने वाला बिन्दु है। इसे भोगवादी एपीक्यूरीयन 'वर्तमान में जीवन-यापन' नहीं समझना चाहिए। 'क्षण' व्यक्ति के चुनाव-निर्णय द्वारा शाश्वत अर्थ की उपस्थिति से

* इससे यह भी स्पष्ट होगा कि हिन्दी में साहित्य में उच्चासीन 'क्षण' कितना 'अनस्तित्व वादी' है अर्थात् शरीरवादी भोगात्मकता पर आश्रित है।

भूत और भविष्य को बांधता है। क्षणगत घटनाओं में शाश्वत अर्थ गर्भित नहीं रहता, वह निश्चित या निर्णित किया जाता है। इसका अर्थ है कि व्यक्ति क्षणगत निर्णय को क्षण-स्थायी मानकर नहीं लेता, बल्कि वह निर्णय शाश्वत और सर्वव है, इस रूप में लिया जाता है। इसी अर्थ मे क्षण भूत (घटना या (temporal) और भविष्य (निर्णय या eternal) को जोड़ता है। इस तरह 'क्षण' वह वर्तमान है जो शाश्वत अर्थवत्ता से ऊर्जित है (present charged with external significance)। स्पष्ट है कि यह 'क्षण' प्रवहमान काल के नैरन्तर्य (continuum) का एक कण है और तत्प्रेरित निर्णय उच्च विन्दु है और एक निरन्तरता का निर्माण करते हैं। फलतः ये एक दूसरे से सम्बद्ध हैं, एक परम्परा मे शृंखलित हैं। इस रूप मे ये निर्णय दैनिक जीवन के सम्पूर्ण विस्तार को प्रकाशित करते हैं। इस निर्णय-प्रकाश के प्रति सजीव वफादारी अत्यन्त आवश्यक है। उनका अंधानुगमन रूढ़ि है, यास्पर्स इस तरह परम्परा को या भूत को त्याज्य नहीं मानता, केवल नवीन अनुभव के रस से उसे अनुप्राणित या संस्कृत करना चाहता है। निष्कर्षतः 'क्षण' एकान्त भोग नहीं है, बल्कि वह परम्परा का वह बिन्दु है, जो नवीन 'शाश्वत' अर्थ की चेतना से परम्परा का पुनर्संस्कार करता है। यह भूत-भविष्य-विरुद्ध नहीं, उनका नवार्थपूर्ण योग है।

●

यास्पर्स का दर्शन किसी निश्चित सीमा को मानकर नहीं चलता है। उसमें सब प्रकार की विचार-धाराओं का सम्मिश्रण है। उसका दर्शन भी स्वतन्त्रास्तित्व के समान सर्वव्याप्त (all-comprehensive) है। दूसरी दिक्कत यह है कि यास्पर्स किसी भी बात को निश्चित नहीं मानता। (यद्यपि अपने समझने की सहूलियत के लिए हमने उसके 'निश्चित-से' रूप का विवेचन किया है।) कोई भी सिद्धान्त या निष्कर्ष उसके लिए अंतिम नहीं है। इसलिए उसकी आलोचना करते हुए हेनेमैन (Heinemann) उसे उड़नशील दार्शनिक (gliding or floating philosopher) की संज्ञा देता है। निश्चितता की प्राप्ति–निश्चित निष्कर्ष या 'विचार' की खोज–पश्चिमी तार्किक (rational) पद्धति का लक्ष्य है। किन्तु यास्पर्स-दर्शन मे 'निश्चित' मत की अपेक्षा रखना अस्थानीय है। यास्पर्स विज्ञान की पश्चाद्भूमि से शुरू करता है और स्पष्ट कहता है कि दर्शन का उद्देश्य 'प्राप्त' करना नहीं, 'खोज' करना है। यह

'खोज' भी व्यक्तिगत स्तर अर्थात् स्वातन्त्र्य-धर्म के आधार पर होती है तथा अनुभूति रूप है। इसलिए इसमें 'निश्चितता' के लिए आवश्यक वस्तुपरक 'सार्वभौमत्व' एवं 'सर्वसाधारणत्व' खोजना अस्थानीय है, उस वस्तु को खोजना है, जिसके बारे में हम जानते हैं कि वह वहां नहीं है।

यास्पर्स की प्रमुख समस्याएं-सम्प्रेषण और स्वास्तित्व की रक्षा-आज भी वैसी ही हैं। सम्भवतः उनका रूप उग्रतर ही हुआ है। उस समस्या का समाधान भी-(चूंकि वह पूर्णत. अस्तित्ववादी न होकर आध्यात्मिक- (metaphysical) है) भविष्य में कारगर होने की सभावना से युक्त है। क्योंकि इसमें धर्म, रहस्य, विचार, समाज-विचार, विज्ञान आदि-सब को पचा लिया गया है। मेरी दृष्टि में निकट भविष्य में ही यास्पर्स-दर्शन का विकास और प्रचार होना चाहिए, शायद पश्चिम की अपेक्षा पूर्व में इस कार्य के होने की सभावना अधिक है।

५

मार्टिन हेडेगर

(Martin Heidegger)

हेडेगर समकालीन दर्शन का अत्यधिक महत्वपूर्ण दार्शनिक है। उसके दर्शन ने साम्यवादी देशों को छोड़कर यूरोप के अधिकांश दार्शनिकों को ही प्रभावित नहीं किया, बल्कि लेटिन अमेरिका, अमेरिका और इंग्लैंड के विचारकों को भी किया है। उसका यह प्रभाव दर्शन-जगत् तक ही सीमित न रहकर धर्मविद्या (theology) और मनोचिकित्सा-विज्ञान तक फैला है। पश्चिम में हेडेगर अपने विशिष्ट धातु-मूलक भाषा-प्रयोग और इन्द्रियविषयवादी अभिगम के कारण अत्यन्त कठिन, दुरूह और अन्तर्विरोध-युक्त दार्शनिक माना जाता रहा है।

हेडेगर का जन्म जर्मनी में हुआ। उसने प्रारम्भ में स्कोलिस्टिक दर्शन की शिक्षा प्राप्त की। १६२३ में अपने कुछेक भाषणों के आधार पर वह मारबर्ग (Marburg) में दर्शन का आचार्य नियुक्त हुआ। १६२६ में अपने गुरु हुसरल की सिफारिश से फ्रीबर्ग (Freiburg) में उसी पद पर उसकी नियुक्ति हुई। तब से अध्यापन का कार्य करता रहा है। द्वितीय विश्वयुद्ध में नाजी-भावना के समर्थन के कारण युद्धोपरान्त उसे विश्वविद्यालय से कुछ समय के लिए हटा दिया गया था।

•

हेडेगर का भूतातीतविद्या (metaphysics) के विषय में अपना विशिष्ट दृष्टिकोण है। भूतातीतविद्या भूतों का विचार भूतों के रूप में ही करती है।

यह विचार प्रतिनिधिक (representational) होना है । भूत से सम्बद्ध वैचारिक 'प्रतिनिधि-भूत' यह पैदा करती है। वस्तु की भौतिक अवस्था में आगे का, किन्तु उस पर आश्रित उसका प्रत्यय (idea) भी हेडेगर की दृष्टि में वस्तु ही है प्रतिनिधिक रूप में । भूतातीतविद्या को यह प्रतिनिधिक दृष्टि भू (being) से मिलती है । अर्थात् भूत में भू (= होना) इस प्रतिनिधि-निर्माण का आधार है । यह भू अस्पष्ट और विचारातीत रहता है, इसलिए इसका प्रतिनिधि नहीं निर्मित किया जा सकता । यद्यपि पश्चिमी भूतातीतविद्या ने भू * का अध्ययन किया है और इसके प्रत्यय भी बनाये हैं, किन्तु भू का सत्य अब तक आवरणित ही रहा है । प्रत्यय बनाते ही भू भूत बन जाता है, फलतः छिप जाता है और असत्य-निरूपण में परिवर्तित हो जाता है । हेडेगर के मत में पूरी पश्चिमी भूतातीतविद्या की परम्परा असत्य का निरूपण और भ्रम-ज्ञान का विस्तार करती रही है ।

हेडेगर के अनुसार भूतातीतविद्या आधारतः तर्काश्रित होने के कारण अकिल्प भू का प्रतिनिधिक रीति से विचार नहीं कर सकती । वह वस्तु और वस्तुगत प्रत्ययों के मूलाधार (भू) को नहीं पकड़ सकती । इसलिए भूतातीत विद्या को चाहिए कि वह भू का प्रतिनिधि ढूंढने का प्रयत्न तथा तत्सम्बद्ध प्रश्न का समुचित उत्तर दे सकने की अपनी सामर्थ्य का दम्भ छोड़ दे । वह अपने क्षेत्र भूत तक सीमित रहे । स्पष्ट है कि यहां हेडेगर भूत में वस्तु और वस्तुगत विचार दोनों को समाहित कर लेता है । इस तरह वह भू से साक्षात्कार के लिए भूतातीतविद्या का अतिक्रमण आवश्यक मानता है । भू का प्रतिनिधि नहीं सोचा जा सकता, किन्तु उसे पुनस्मृत (recall) और विचार में पुन-र्जागृत किया जा सकता है । यह कार्य पारम्परिक भूतातीतविद्या में निर्देशित चिन्तन नहीं कर सकता, क्योंकि वह तर्क अर्थात् विषय-विषयी के दायरे में ही क्रियाशील रहता है और इस प्रक्रिया में, फलतः, प्रतिनिधिक है । हेडेगर के अनुसार इसीलिए विज्ञान, समाज-विज्ञान, भूतातीतविद्या आदि ज्ञान के ये सब मार्ग अपूर्ण हैं और भू का सतत रूप प्रस्तुत करते हैं और मानव को भू से,

---

* इस भू का विशिष्ट हेडेगरी स्वरूप आगे चर्चित होगा । भूत अर्थात् निश्चित पदार्थरूप अस्तित्व, जिसे भू के सन्दर्भ में भूत (beings) कहा गया है । इसका भी सविस्तार विवेचन आगे होगा ।

उसके आधार से विच्छिन्न करते रहते हैं। आज के युग में भू की उपेक्षा और मानव की विच्छिन्नता–यांत्रिकी, औद्योगिकी और यथार्थवादिता के कारण–अपने उच्चतम शिखर पर पहुंच चुकी हैं। इसलिए इस भू की पुनस्मृति या पुनर्जागृति मानवीय स्वास्थ्य के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

यह भू (being) क्या है ? हेडेगर इसका रूप सुकरातपूर्व विचारकों–विशेषत. परमिनाइड्स (Parmenides) और हेरक्लिटस (Heraclitus)–के आधार पर स्थिर करता है। इन लेखकों में भू का जो स्वरूप है, वह स्फुरणशील शक्ति का प्राकट्य और प्रकाशित रहने की सामर्थ्य से युक्त है, जिसे ग्रीक में प्रकृति (physis) कहा गया है। यह समस्त भूत-जगत् (beings) के व्यापार का मूलाधार है, किन्तु मात्र भूतगत नहीं है तथा भूत से सीमित या उसके द्वारा समाप्य नहीं है। इसे समझाने के लिए व्याकरण और व्युत्पत्ति का आधार भी लिया गया है। व्याकरण की दृष्टि से जर्मन शब्द (sein=भू) सामान्य (तुमुन्) अपूर्ण (infinitive) क्रिया है अर्थात् कर्त्ता-कर्म से मुक्त है और साथ ही साथ कृदन्त भाववाचक संज्ञा (verbal substantive) भी है। इसलिए यह 'है' क्रिया से संयुक्त है। सामान्य होने के कारण इसमें स्वतन्त्रता, अबद्धता और अनिश्चितता है और क्रिया होने से यह बद्ध और निश्चित (determinate) भी होता है। 'है' का सत्त्व 'होना' है, भू है। 'होना' अनिश्चित है, जबकि 'है' निश्चित। किन्तु इस 'है' में भी अनेकविधता है, यह सदैव भुराऊ है, सीधा और कठोर खड़ापन इसमें नहीं है। अर्थात् इस 'है' में संभावना है, कुछ भी 'हो' जाने की वृत्ति है, जिसे व्याकरण की भाषा में विभक्ति-विकार (inflection) के रूप में स्वीकार किया गया है। हेडेगर कुछ उदाहरणों के द्वारा यह बात स्पष्ट करता है। आम बोलचाल की भाषा में हम इस प्रकार के प्रयोग करते हैं:–ईश्वर है, पृथ्वी है, भाषण कक्ष में है, गिलास चांदी का है, कुत्ता बाग में है, रमेश कक्षा में है आदि। इन सबमें 'है' के निश्चित किन्तु भिन्नार्थक रूप हैं। क्रमशः– 'ईश्वर है' में ईश्वर वास्तव में विद्यमान है,' पृथ्वी है' में पृथ्वी हमेशा अनुभवगम्य रूप में उपस्थित है, 'भाषण कक्ष में है' में भाषण कक्ष में होगा, 'गिलास चांदी का है' में गिलास चांदी का बना हुआ है, 'कुत्ता बाग में है' में कुत्ता बाग में बैठा है या दौड़ रहा है, 'रमेश कक्षा में है' में रमेश कक्षा में पढ़ रहा है या पढ़ा रहा है–के भिन्नार्थ गृहीत किये जाते हैं। इनका अर्थ अंग्रेजी में भी प्राप्त किया जाये, एक बात स्पष्ट है कि 'है' के द्वारा

'भू' भिन्न भिन्न रूपों में प्रकट होता है।

इस तरह यह निष्कर्ष प्राप्य है कि भू सामान्य (तुमुन्) अपूर्ण क्रिया (infinitive) होने के कारण अनिश्चित, अस्पष्ट और स्वतंत्र है, किन्तु साथ ही साथ 'है' से घनिष्ठतः सम्बद्ध होने से यह निश्चित, बद्ध और स्पष्ट भी है। अतः यह निश्चित-अनिश्चित, स्पष्ट अस्पष्ट और स्वतंत्र-परतंत्र के तर्कपरक विरोधों को समन्वित किये हुए है।

भू (being) के व्युत्पत्ति विचार से भी कुछ लक्षण स्पष्ट होते हैं। हेडेगर ग्रीक, जर्मन, संस्कृत आदि अनेक भारोपीय भाषाओं के मूल धातु-रूपों का इस संदर्भ में विचार करता है। हम अपनी सीमा-सामर्थ्य के अनुशासन में केवल संस्कृत शब्दों पर ही विचार करेंगे। भू के मूल में 'भू' धातु है, जिसका अर्थ होता है प्रकट होना या आविर्भाव। अरूप और अनिश्चित कुछ इस शक्ति के द्वारा आविर्भूत या प्रकट (emerge) होता है। इसीसे सम्बद्ध धातु है अस्, जो प्राणार्थक या जीवनसंज्ञक (living) है। इस परम्परा में 'वस्' धातु-रूप भी आता है, बसना, निवास करना, रहना (dwelling) अर्थात् स्थायित्व (enduring)। अतः भू-शक्ति के तीन लक्षण हैं—अस्ति, भवति और वसति। अर्थात् प्राणवन्तता, आविर्भाव और स्थायित्व। यह प्राचीन ग्रीक भू का रूप है। यह ऐसी शक्ति है, जो ऊपर आती है, उतिष्ठ होती है, उतिष्ठ रहती है और स्थायित्व-युक्त है। इस प्रक्रिया में स्वयमेव यह शक्ति एक सीमा ग्रहण कर लेती है। यह सीमा बाहर से थोपा गया बन्धन नहीं है, बल्कि इसके स्वयम्भूत्व की उद्देश्य-रूप सम्पूर्ति (fulfillment) है। आविर्भूत होने में ही यह सीमा अन्तर्निहित है। क्योंकि इसका आविर्भाव सीमाकारगत अर्थात् रूपमय (morphe) होता है। फलतः यह वह अरूप प्राणवान शक्ति है, जो स्वयम्भू है, स्वबद्ध है, स्वाश्रित है और स्वचालित है। यह शक्ति ही अव्यक्त (concealment) से व्यक्त होती है, तब भव का, भव में वस्तु या भूत का, आविर्भाव होता है, निर्माण होता है। इस आविर्भाव के मूल में शक्तिगत आंतरिक विग्रह (conflict) है। यह विग्रह तोड़ता नहीं, जोड़ता है, संगठन करता है। हम एक अधूरे उदाहरण से इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न करें। बीज में एक शक्ति है, जो अव्यक्त है, किन्तु जिसमें संभावित पेड़ है। संघर्ष के परिणामस्वरूप शक्ति व्यक्त रूप (=पेड़) की एक सीमा प्राप्त करती है। यह संघर्ष या विग्रह उस बीजगत शक्ति में ही निहित है और इसी के माध्यम से पेड़ की शाखाएं, पत्ते, मूल, भूमि आदि संगठित या सूत्रित रहते हैं। यह संघर्ष

होता है। वह भेद में अभेद, भिन्न में अभिन्न, अव्यवस्था में व्यवस्था और असूचना में सूचना उदित करती है। मनुष्य और भूत को सुवद्ध करती है। भूत-समूह रूप-ग्राम (morphe) भू है। इस प्रकार मनुष्य सूक्ष्म स्तर पर भू है, भू (भव) में है और भू (भूत=वस्तु=अन्य) के साथ है। इसलिये भू की पुन-स्मृति (recall) से स्थूल स्तर को पार करना पड़ता है, क्योंकि स्थूलस्तर अर्थात् भूत या रूप भू को आवरणित रखते हैं। इसलिये भू के इन रूपायित अस्तित्वों को नकारना (nihilation) उसकी पुनस्मृ ति के लिये अनिवार्य है।

•

अब भू के विविध रूपों पर विचार करने की स्थिति में हम हैं। प्रमुखत. दो रूप द्रष्टव्य हैं:—(१) भूत (beings) और (२) भूतत्र (being-there)। प्रथम वस्तु-जगत् है और दूसरा मानवीय अस्तित्व। हेडेगर के अनुसार अस्तित्व भूतत्र अर्थात् मानव का ही है, भूत का नहीं। इसलिये अनिवार्य है कि 'अस्तित्व' क्या है, यह समझा जाये। हेडेगर की अस्तित्व की धारणा भी नवीन है, जो इस भू से प्रकाशित होती है। अस्तित्व का सम्बन्ध नैतिक और धार्मिक क्षेत्र से नहीं है, बल्कि दर्शनगत अतिक्रमण अथवा अतीत भाव (transcendence) से है। 'होना' (to exist) वस्तुत स्व से बाहर भव में होना है (to ex-sist=to stand outside) अर्थात् भवस्थ-अस्तित्व है। भव या संसार पूर्वप्रदत्त है, जिसमें मनुष्य का अस्तित्व सम्पृक्त होता है और इस सम्पर्क पर वह आश्रित रहता है। यह भू का वाह्यीकृत रूप (overtness of being) है अर्थात् भवोन्मुख और भवाभिमुख, फलत. भव-सीमित। भू में आविर्भाव और प्राकट्य की अतिक्रमणशील शक्ति है। उसी अतिक्रमणशीलता (transcendence) का प्रकट बाहरी रूप अस्तित्व है। हेडेगर से पूर्व कीर्केगार्द और यास्पर्स भी अतिक्रमणशीलता को स्वीकार करते हैं, किन्तु वे इसे चेतना का गुण मानते हैं, जिसके द्वारा व्यक्ति स्वविकास के लिये स्वातीत और सीमातीत होने का प्रयत्न करता है। हेडेगर इसे चेतना का गुण नहीं मानता, बल्कि इस अतिक्रमणशीलता की प्रवृत्ति को मानवीय वास्तविकता के विधान में (या भू के विधान में ही सम्भावना के रूप में कल्पित करता है।

अब तत्सम्बद्ध दूसरा प्रश्न उठता है कि यह वास्तविकता क्या है? इस क्षेत्र में भी हेडेगर परम्परागत धारणा में परिवर्तन करता है। अरस्तू की

परम्परा में वास्तविकता को सम्भावना से प्रथम माना गया है।* अर्थात् वास्तविकता के विधान में ही कुछ सम्भाव्य गुण हैं, जो उचित सम्पर्कों से आविर्भूत होते हैं। लड्डू का मीठा स्वाद मुख के सम्पर्क से उत्पन्न होता है, जो 'स्वाद' से प्रथम लड्डू के वास्तविक विधान में ही गर्भित है। इससे स्पष्ट हुआ कि स्वाद की सम्भावना—परवर्ती या गौण गुण है। हेडेगर के अनुसार यह परिभाषा वस्तुजगत् अर्थात् भूत तक ही सीमित है, भूतत्र अर्थात् मनुष्य की वास्तविकता पर या भू पर लागू नहीं होती। इसलिये वह नयी परिभाषा देता है कि वास्तविकता सम्भावना द्वारा निर्मित है।* अर्थात् वास्तविकता का विधान ही सम्भावित होने की क्षमता (अतिक्रमण) से निर्मित है, संभावना न हो तो वास्तविकता का विधान ही नहीं होगा। फलतः मनुष्य की वास्तविकता (अस्तित्व) के विधान में भी सम्भावना की क्षमता (अतिक्रमणशीलता) है। यह चेतनात्मक गुण नहीं, अस्तित्व की विधानात्मक अनिवार्यता (structural necessity) है।

हेडेगर अपनी पुस्तक (being and time) में कहीं पर भी 'मनुष्य' शब्द का प्रयोग नहीं करता, सदैव 'भूतत्र' (being-there) का करता है। 'भूतत्र' अर्थात् भू का तत्रस्थ रूप। 'तत्र' एक क्षेत्र विशेष या स्थान विशेष का अर्थ देता है। दूसरे शब्दों में, वह क्षेत्र भू का निवास-स्थान (dwelling) है। इस प्रकार भूतत्र में भू संयुक्त है और साथ ही साथ भूतत्र (मानव) भू के खुलेपन (openness) में स्थित है। भूतत्र भू में सारतः (essentially) संगठित है क्योंकि उसका 'सार' उसके अस्तित्व (अतिक्रमणशीलता) में ही स्थित है।° यह एक बात ध्यातव्य है कि भू भूतत्र में स्थित होते हुए भी विलक्षण रहता है, इसके द्वारा अधिकार नहीं हो जाता और न वह भूतत्र के अनुरूप होता है। भूतत्र का अस्तित्व भू की एक कार्यविधा (mode) मात्र है।

भूतत्र [illegible] भू है। इस [illegible] पर [illegible] और विचार करें। [illegible] [illegible] की [illegible] है। [illegible] [illegible] है [illegible]

---

* [illegible] is prior to potentiality.

* [illegible] by potentiality.

[illegible] Being and

मन है ? यदि यह शरीर ही है, तो दूसरा शरीर 'इन्दिरा गांधी' क्यों नहीं है ? यदि शरीर की विशेषता (आकार-प्रकार, रूप-कुरूप आदि) 'इन्दिरा गांधी' है, तो ऐसा ही दूसरा शरीर यदि हो, तो क्या वह 'इन्दिरा गांधी' होगा ? स्पष्ट है कि नाम शरीर की ओर संकेत अवश्य करता है, पर शरीर नहीं है। तो क्या यह अन्तःकरण है—एक विशेष अन्तःकरण ? अन्तःकरण का नाम इन्दिरा गांधी नहीं हो सकता, क्योंकि यह 'अन्तः' होने के कारण या प्रच्छन्न होने से विशिष्ट संज्ञा की सीमा के अतीत होता है। नाम 'बहिः' का होता है, बहिः जो 'दृश्यमान' है। स्पष्ट है कि 'इन्दिरा गांधी' न एकान्तिक रूप में शरीर है और न अन्तःकरण, फिर भी इस 'नाम' में दोनों समाहित हैं। इन दोनों के समाहार में एक क्षेत्रविशेष निहित है। 'इन्दिरा गांधी' वह अस्तित्व है, जो क्षेत्रस्थ है अर्थात् किसीकी बेटी है, किसीकी पत्नी है कहीं पर काम करती है, वृद्ध भी हो सकती है आदि आदि। इस 'अस्तित्व' में शरीर (object) और अन्तःकरण (subject) दोनों एकान्वित हैं, भू-रूप हैं। 'प्रधानमंत्रीत्व' और 'भारत' भी उसी क्षेत्र की ओर इंगित करते हैं। फलतः भूतत्व भू का अभिव्यक्त (overt) रूप है, जो क्षेत्र की सीमा में आबद्ध है और भू होने के कारण अतिक्रमण शील, प्रकट और आविर्भूत होनेवाला अर्थात् अस्तित्व है। यह अस्तित्व चूंकि शरीर एवं अन्तःकरण से समन्वित है, इसलिए नश्वर या अनित्य है। इसलिए नश्वरता या अनित्यता भी भूतत्व का निर्माणक तत्व है।

भूतत्व अर्थात् मनुष्य, इस प्रकार भवस्थ (being-in-the-world) है। *उसके तीन परस्पर सम्बद्ध रूप हैं–(१) तथ्यता (facticity), (२) अस्तित्वता* (existentiality) और(३) च्युति (forfeiture)। ये तीनों प्रकार मनुष्य की मूलभूत सीमित और अनित्य स्थिति से प्रादुर्भूत होते हैं।

प्रदत्त भव तथ्यता है। मनुष्य भव में रहता है। भव में स्थित भूत, वस्तु और अन्य परस्पर सम्बद्ध हैं। जन्म के समय मनुष्य स्वयं को इस भव में पाता है। इसका चुनाव वह स्वयं नहीं करता। इसी भव में वह अर्थ उत्पन्न करता है। मनुष्य भव की एकानेक वस्तुओं का एक भाग है। फलतः दार्शनिक दृष्टि से कोई भी वस्तु 'उसकी' नहीं है, 'मेरी' नहीं है। यह भव इस रूप में संदिग्ध (contingent) है, इसमें घटित घटनाओं के संघात और उपलब्धियों को इसी संदिग्ध रूप में मनुष्य को स्वीकार करना पड़ता है। यही

भूतत्व या मनुष्य की तथ्यता है। मैं अपने भव में-देशकाल में-रहता हूं, किन्तु यह तब तक मेरा नहीं होगा, जब तक कि मैं प्रतिज्ञा (assert) नहीं करता, इसे अपनाता नहीं। प्रतिज्ञा करते ही यह भव मेरा हो जायेगा। मैं इसमें अपना अर्थ उत्पन्न करूंगा, इसलिए पूर्णतः मेरा अपना। स्पष्ट है कि यह 'भव' वैसा ही (कार्य क्षेत्र का) अर्थ देता है, जैसा हम साधारण भाषा में 'शेक्सपीयर के संसार' (World of Shakespeare) से ग्रहण करते हैं। हेडेगर यहां वैज्ञानिक विश्व की उपेक्षा करता है। उसका 'भव' सजीव और भू-सम्पृक्त रूप में प्रकट होता है।

इस भव को अपनाने का काम मनुष्य अस्तित्वता के द्वारा करता है। भव को वह तभी अपना बना सकेगा, जब वह प्रदत्त भव और वस्तुओं से आगे बढ़े (emerge करे), उनका अतिक्रमण (transcend) करे और साथ ही साथ स्वयं का भी। तभी वह इसे अपना रूप (design) दे सकता है। इस तरह वह सदैव भविष्य की ओर अग्रसर होता रहता है। इस गति में वह भव और भवस्थ भूतों (वस्तुओं) को नवीन अर्थ देता जाता है उसके इस भव में ऐसी घटनाएं भी होती हैं, जिनका अनुमान नहीं लगाया जा सकता या जिनका पूर्वकथन (prediction) नहीं किया जा सकता। फलतः मनुष्य को प्रदत्त तथ्यों का सुप्रयोग कर उनसे अग्रिम होना पड़ता है। यह अस्तित्वता भी मनुष्य की क्षरता या नश्वरता से उद्भूत है और भूतन-भू के आविर्भाव (emergence) गुण से मनुष्य को प्राप्त है।

च्युति बाधा है, मनुष्य को अतिक्रमण के कार्य से धष्ट करती है। मनुष्य स्व को भव की वस्तुओं से बांधलेता है, समीकृत कर लेता है। वह भव के मोह में ग्रस्त हो जाता है। फलतः वह अपनी स्वभावगत अस्तित्वता को भुला देता है। भूतों के समान वह भूतों और दूसरों से शामिल हो जाता है। भूतों को वह प्रकाशित नहीं करता, अर्थ नहीं देता, बल्कि उनका दास हो जाता है। इस तरह वह स्व-भाव को जब्त कर देता है, उससे च्युत हो जाता है और अपने 'भू' की उपेक्षा करता है और निरर्थक कार्यों और मोहों में संलग्न रहता है। हेडेगर के अनुसार आधुनिक काल में मनुष्य सर्वाधिक च्युत है, क्योंकि आज वह सबसे अधिक भूत से अथवा भौतिक जगत् से ही सम्बद्ध है।

मनुष्य को च्युति से बचते हुए अपनी अस्तित्वता को कायम रखना है और इस प्रकार अपने में निहित संभावना को पूर्ण करना है। वह यह कैसे

करता है ? इसके लिए मनुष्य के स्वभाव, अस्तित्व विधा (mode of existence) और भव से उसके सम्बन्धों का विवेचन आवश्यक है।

जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, मनुष्य एक सम्भावना है। वह स्वाधीन अग्रिम भू (being-in-advance-of-himself) है। इसलिए उसे एकानेक सम्भावनाओं में चुनाव करना पड़ता है और चूंकि यह चुनाव अन्तिम नहीं होता, इसलिए वह अनिश्चित है। उसे सतत अतिक्रमणशील रहना पड़ता है। यह अतिक्रमणशीलता पर आधारित सम्भावनाओं का चुनाव भव में ही घटित होता है, अन्तर में नहीं। इसलिए उसके अस्तित्व की एक विधा है और उस विधा का एक विधान या ढांचा (structure) भी है–वह है भवस्थ भू (being-in-the world) अर्थात् भव में उसका अस्तित्व। उसका भू इस भवस्थता के द्वारा निर्मित है। फलतः वह भव के भूतों (beings) से अर्थात् वस्तु और अन्य मनुष्यों से–घनिष्ठत सम्बद्ध है। वह उनसे निरपेक्ष नहीं रह सकता। भूत-सम्बद्ध कार्य, उद्देश्य, चिन्ताएं, प्रयत्न–ये सब उसके अस्तित्व के आकार हैं। उसका निजी भव उसकी संलग्नता और चिन्ता का भव है, निरपेक्ष वस्तुओं का नहीं। इस भव की वस्तुएं मनुष्य के लिए उपयोगी (ready-to hand) हैं। ये वस्तुएं भी अपने सम्बन्धों से निर्मित एक भव में स्थित हैं। मेज का कुर्सी से, उस पर रखे कागज आदि से सम्बन्ध है। इस प्रकार वस्तु की सत्ता भी उसके सन्दर्भों और सम्बन्धों से निर्मित है, वस्तु का एक अपना संसार है, जो मनुष्य (भूतत्व) के सम्मुख प्रकट होता है या मनुष्य उसे प्रकाशित (luminate) करता है। मनुष्य का भव इन सम्बन्धों की व्यवस्था से बद्ध है, किन्तु उसका अस्तित्व सम्भावनाओं की ओर अनिवार्यतः प्रेरित और क्रियाशील है। अपनी सम्भाव्य योजनाओं (projects) को परिणत करने के लिए मनुष्य इन वस्तुओं का उपकरण के रूप में प्रयोग करता है। इस तरह प्रदत्त भव को मनुष्य अपनी सामर्थ्य के, अस्तित्व के अनुसार पुनर्व्यवस्थित या पुनर्निर्मित करता है अर्थात् अर्थ देता है। स्पष्ट है कि यह भव वैज्ञानिक अथवा देकार्तवादी दर्शन के भौतिक-भव (physical world) से पूर्णतः भिन्न है। पश्चिम के लिए बिलकुल नवीन और आश्चर्य पूर्ण है। भारतीय के लिए शायद यह उतना अचरज भरा नहीं है। यहां भव को भव-सागर माना जाता रहा है।

वैज्ञानिक भव की वस्तुओं को प्रदत्त विषयों (vorhandene) के रूप में गृहीत करता है, जबकि मनुष्य उनको उपकरण के रूप में। इनमें विरोध नहीं

है, किन्तु जीवन की दृष्टि से वैज्ञानिक का जगत् एकान्तिक और 'जीवन' रहित होता है, इसलिए एकांगी और भू को आवरणित करने वाला होता है।

मनुष्य की इस भवस्य सत्ता का सम्बन्ध दूसरे व्यक्तियों से भी होता है, इसलिए वह 'दूसरों के साथ' (being-with-others) अथवा सह-भू भी है। यह सह-भूत्व भी उसकी सत्ता का निर्माणक तत्त्व है। मनुष्य की सत्ता सामान्य है, सहकर्ममय है, फलत. परस्पर आश्रित है। नेता का अर्थ है पार्टी, प्रजा और राजनीति और पार्टी भी नेता, प्रजा और राजनीति से संयुक्त है। फलत: मनुष्य वस्तुओं को उपकरण ही नहीं बनाता, दूसरे व्यक्तियों से भी संभावना की सम्पूर्ति में सहायता लेता है। हेडेगर का मनुष्य विषयीगत (subjective), एकान्तिक और यथार्थ से विच्छिन्न नहीं है। वह गले तक दैनिक जीवन के यथार्थ में डूबा हुआ है, उससे संयुक्त ही नहीं निर्मित ही है। देकार्त का आत्मनिष्ठ चेतना विशिष्ट 'मैं सोचता हूँ, अत मैं हूँ' के एक पक्षीय मानव के सर्वथा विपरीत हेडेगरी व्यक्ति साधारण जन है, जो प्रामाणिक बनकर असाधारण होता है। हेडेगर इस प्रकार मनुष्य-विचार को धरती पर, सड़क पर ला खड़ा करता है।

मनुष्य दूसरों से सम्बद्ध है, इसलिए सामाजिक सम्बन्ध उसकी सत्ता के लिए अनिवार्य है। वह इनके उत्तरदायित्व से प्रामाणिक रूप में बच नहीं सकता। जब वह इनसे बचने की कोशिश करता है (जो प्राय: लोग करते हैं) तो वह मनुष्य न रहकर व्यक्तित्वहीन इकाई (impersonal one=das man) रह जाता है, भू को भुला देता है और समाज-प्रचलित और प्रदत्त मतों, रीति-रिवाजों का उपकरण बन जाता है। उसकी मूलभूत संभावनाएं स्थगित हो जाती हैं और वह विषय-रूप (objectified) बन जाता है। मनुष्य में उत्तरदायित्व से बचकर इस अप्रमाणिक रूप में परिवर्तित होने की अदम्य सुखवादी वृत्ति है, यह उसकी सत्ता की च्युति है। मनुष्य स्वयं को एक वस्तु या संभावना विहीन भूत समझने लगता है और अतिक्रमण या चुनाव की उपेक्षा करता है। संक्षेप में—वह मोहाविष्ट हो जाता है। हेडेगर इस मोह को भी सत्ता का ही अंश मानता है, क्योंकि मनुष्य भी भूतान्तर्गत है। किन्तु मनुष्य इस अंश को इस मोह को नया रूप (modify) देता है, उसका अतिक्रमण करता है, उसे करना चाहिए।

मनुष्य व्यक्तिहीन इकाई से अपने आपको अलग भव की पुनर्व्याख्या और

नया अर्थ देकर करता है—अपनी संभावनाओं के संदर्भ में, उनके अनुरूप। यह 'अर्थ-दान' वैचारिक नहीं, अस्तित्वपरक होता है। भव का बोध उसे भव में स्वयं के अव-निपात और सीमितता से उपजता है। इसलिए उसको अपने ही प्रयत्न और उद्योग से जिम्मेदारी के साथ इस भव का सामना करना पड़ता है। इस प्रक्रिया में वह 'अर्थ-दान' करता है। इस सारी तथा समन्वित अर्थोपलब्धि के लिए विज्ञान के भौतिक नियमों का भी उसे मानवीय संभावनाओं के प्रकाश में पुनर्संस्कार करना होता है।

ऐसी परिस्थिति में उसके सामने प्रामाणिक और अप्रामाणिक जीवन के रूप प्रकट होते हैं। अप्रामाणिक जीवन में वह वस्तु (thing) या भूत बन सकता है, जबकि प्रामाणिक जीवन अंगीकार कर वह सच्ची सत्ता–भू–में साक्षात्कार कर सकता है। इस स्थिति में चुनाव अनिवार्य है। अप्रमाणिक जीवन में वह स्वीकृत प्रदत्त स्तर पर विचार और कार्य करता रहता है। वह दैनिक सुख-दुख में तल्लीन हो जाता है, एक बाहरी अनाम उपस्थिति से शासित होता हुआ उसी को सुखदुख, सफलता-असफलता के लिए उत्तरदायी मानने लगता है। यह समूह-जीवन है, जो स मूहिक होने के कारण प्रत्यक्षतः उचित प्रतीत होता है। 'सब ऐसा करते हैं' का गैरजिम्मेदाराना दृष्टिकोण अप्रामाणिक जीवन का परिचायक है। हेडेगर इसे बन्धन मानता है, मनुष्य की च्युति मानता है। क्योंकि इसके द्वारा मनुष्य अपनी सत्तागत संभावनाओं से वियुक्त हो जाता है और अपने निस्सार अस्तित्व का दास बन जाता है। इस प्रकार वह स्व-निहित संभाव्य सत्य–भू–से अलग दौड़ रहा होता है।

सत्य से अभिव्यक्त वस्तु की और यह दौड़ उसमें संत्रास उत्पन्न करती है, एक दोष-भावना उपजाती है। वह अपने सत्य और संभावना से अलग भागता है, क्योंकि उसे ऐसा महसूस होता है कि उसका यह सत्य ऐसा है, जो उसकी वस्तुगत स्थिति, स्व-व्यवस्था और समूहगत ठोसता को विशृंखल कर देगा। यह वास्तविक विपत्ति है, क्योंकि वह सत्य (संभावना) निश्चिततः उसे एकान्त और अद्वितीय (unique) बना देगा—संभावनाएं सदैव व्यक्तिगत होंगी। समूह और वस्तु से टूटने की आशंका, उसमें संत्रास उत्पन्न करती है, तो दूसरी ओर सत्य से च्युत होने की अनुभूति भी इस संत्रास का कारण है। इसलिए संत्रास सामान्य भय नहीं है। भय किसी विशिष्ट वस्तु से उपजता है, जबकि इस संत्रास का कोई निश्चित उत्पादक विषय नहीं होता। यह संत्रास सर्वतंत्रतक

और विनाशात्मक द्विविध है। यदि व्यक्ति इसमें अवसीन हो जाता है तो वह वस्तु की ओर भागता है, वस्तुगत हो जाता है और परिणाम स्वरूप स्व-सत्य से विच्छिन्न हो जाता है, जबकि वह यदि इसका सामना कर लेता है तो वह स्व-सत्य की पूर्ति की ओर उन्मुख हो प्रवृत्त होकर कार्य-रत होता है। यह सत्रास मनुष्य को इस अर्थ में स्वतंत्र बनाता है। वह भू का साक्षात्कार करता है, उसे स्वीकार करने या अस्वीकार करने का चुनाव या निर्णय अनिवार्य है।

मानव-अस्तित्व के चिन्ता (sorge) मजक लक्षण में यह परिस्थिति पूरी तरह लक्षित होती है। भूतत्र (मानव अस्तित्व) पहले ही सदस्य भूयमान भू है, इसलिए भविष्य में संक्रमित हो रहा है, किन्तु साथ ही साथ भव से या भूत से सम्बद्ध भी है। चिन्ता में यह तथ्य लक्षित है। चिन्ता के अन्तर्गत तीन तत्त्व हैं। प्रथमतः व्यक्ति की सत्ता स्वातिक्रमण युक्त है, वह जो है सो नहीं है, बल्कि वह जो होगा सो है अर्थात् वह भूत नहीं है भूयमान है, सभाव्य है। इसलिए स्वरूपतः वह स्वातीन है, कुछ नया होने वाला है, जो अब नहीं है। उस आगत या भव्य के लिए, उसकी उपलब्धि के लिए भावना 'चिन्ता' है। दूसरी ओर चिन्ता व्यक्ति की पूर्वप्रदत्त भव में उपस्थिति और भव में स्व-सत्य को सफल बनाने की आकुलता को भी समाहित किये हुए है। और अंतिम रूप में, चिन्ता के द्वारा मनुष्य के भवगत सम्बन्ध और कार्य, तज्जन्य प्रभाव या भावना भी लक्षित होती है। इस तरह चिन्ता मनुष्य की वर्तमान, भूत और भविष्य की सब क्रियाओं को समेटे हुए है।

अब मनुष्य की व्यक्तिगत सत्ता की संभाव्यता को समझना जरूरी है। संभाव्यता 'है' नहीं, इसलिए यह अनन्त और अपूर्ण है। सान्तता और पूर्णता अप्राप्य ही रहती है। मृत्यु के आगमन से सब सभावनाओं का हरण हो जाता है। किन्तु मृत्यु भी तो संभावना है। जन्म होता है, फलतः मौत आती है। इस सभाव्य मौत का सेवन मनुष्य प्रारम्भ में ही करता है। वस्तुतः मृत्यु उसकी सत्ता में ही समाहित है, उसे हटाया नहीं जा सकता। इसे प्रामाणिक रूप में स्वीकार करना आवश्यक है। व्यक्ति मरता है, इसका अर्थ है कि मृत्यु एक ऐसी सत्तागत सभावना है, जो अन्य संभावनाओं का हरण ही नहीं करती, बल्कि उनकी नश्वरता और अनिश्चितता भी सिद्ध करती है। मनुष्य शून्य (जन्म से पूर्व शून्य है—मनुष्य के लिए) में पैदा होता है और शून्य (मृत्यु) में विलीन हो

जाता है। मृत्यु से जीवन या सत्ता की असत्ता संभव होती है अर्थात् मृत्यु शून्य (nothing) होने की संभावना है, जो व्यक्तिगत सत्ता में ही समाहित है। संत्रास की स्थिति में मनुष्य को यह प्रतीत होता है कि वह मर्त्य है, उसका अविर्भाव तिरोभाव (मृत्यु) के लिए है। यह तथ्य उसके दैनिक कार्य-व्यापारों में या व्यक्तित्वहीन जीवन-यापन में दबा-छिपा रहता है।

मृत्यु मनुष्य को प्रामाणिक जीवन-यापन का परिचय ही नहीं करवाती, उसे उस जीवन में सक्रिय भी करती है। व्यक्ति सदैव मृत्यु के आभास में रहता है। मौत कभी भी आ सकती है। उसका आना जीवन की सब वस्तुओं–धन, श्री, राग, द्वेष, अधिकार, वैभव आदि को नश्वर, निरर्थक और निराधार बना देगा। इस तरह जीवन में मौत का स्वीकार वस्तुओं को सच्चे रूप में प्रकट करेगा, उनका अवमूल्यन करेगा। धन, अधिकार, रागद्वेष आदि का समूहगत मूल्य नष्ट हो जायेगा, उनकी निरर्थकता, असत्यता, अस्थिरता, नश्वरता के प्राकट्य से उनकी व्यक्ति की दृष्टि में कीमत भी घट जायेगी। ऐसी मौत को व्यक्ति या तो स्वीकार करे या भुलाये–यह चुनाव उसे करना है। सामान्यतः समूह-व्यक्ति इसे भुलाता है, अप्रामाणिक जीवन का चुनाव करता है और भ्रमों में 'अनस्तित्व' में जीता है। मृत्यु का चुनाव, उसका वरण मनुष्य को दैनिक जीवन के प्रति पराङ्मुख, विरक्त या उदासीन नहीं बनायेगा, बल्कि उसमें एक तटस्थ भाव या स्थितप्रज्ञता उत्पन्न करेगा, जिससे वह दैनिक जीवन के व्यापारों से ठगा नहीं जायेगा और स्व को तद्रूप नहीं करेगा। वह सीमित सार्थकता के साथ उन्हें स्वीकार करेगा। इस तादात्म्य से उसके जीवन में आत्मशक्ति, सद्-भाव और सहिष्णुता उत्पन्न होगी। (मृत्यु का सम्बन्ध 'नास्तित्व' से है, उसका विवेचन आगे होगा।)

जीवन की इस प्रामाणिकता को प्रेरित करने वाली शक्ति व्यक्ति की सत्ता में ही निहित अन्तःकरण (conscience) है, जो चुनाव के लिए बाध्य करता है और उसके व्यवहार का मूल्यांकन करता है। यह अप्रामाणिक होने पर उसे धिक्कारता है, अर्थात् प्रामाणिक बनाकर उसे नश्वरता को पहचानने और उस में रहने की अनिवार्यता उद्घाटित करता है। यह अन्तःकरण पूर्व-वर्णित चिन्ता के विधान में ही है। यह सम्भाव्य भू है, जो 'अभव' (निमित्त) भू (दैनिक भूत-जगत् के तद्रूप) का उद्बोधन करता है। इस भू की प्रेरणा से मनुष्य (भूतत्व) अपनी मर्यादित नश्वरता को स्वीकार करता है। नश्वरता के दोष (अपूर्णता)

क्रिया में 'मैंने' भूत बना दिया और भविष्य को वर्तमान। अब 'पुस्तक खो गई' का आभास या अनुभूति मुझ में है तो मैं भूत को वर्तमान भी बना रहा हूँ। फलतः मैं कालावधियों का निर्माण करता हूं और उन अवधियों को जोड़ता भी हूँ और इस कार्य का मूल भविष्य (आविर्भाव) है। इस प्रकार अवधियां मेरे संक्रमण या बहिर्गमन (ekstasies) पर आश्रित हैं। निष्कर्षतः मनुष्य 'काल' को उत्पन्न करता है और उन्हें जोड़ता भी है और इस प्रक्रिया में वह सदैव भविष्योन्मुख है। इसी गति के द्वारा वह भव में अर्थ उत्पन्न करता है, अपनी संभावनाओं के आनुकूल्य या प्रातिकूल्य के संदर्भ में उसकी पुनर्व्यवस्था करता है। हेडेगर का यह काल-निरूपण भूत-शास्त्री (physicist) और अन्य पूर्व दार्शनिकों के मतों से भिन्न और नवीन है।

मनुष्य अपनी नश्वरता या कालधर्मिता के कारण ही ऐतिहासिक है। वह एक विशेष समय भव में जन्म लेता है, फिर एक विशेष समय लुप्त हो जाता है। भव में जन्म लेते ही वह ऐतिहासिक क्षेत्र में आ जाता है। हेडेगर की ऐतिहासिकता की धारणा भी नवीन है। इतिहास का अर्थ भूतकाल ही नहीं है, क्योंकि भूत वह है, जो नहीं हो रहा है। इतिहास समकालीन भी नहीं है, जो कभी घटित नहीं होता, प्रवाहित होता है। इतिहास एक ऐसी घटना है, जो क्रियाशील है, क्रिया-प्रभावित भी है। यह घटना वर्तमान में से गुजरती है, किन्तु इसके कार्य-व्यापार भविष्य से निर्मित होते हैं और ये निर्णय भूत को संयुक्त किये हुए होते हैं। केवल वर्तमान इस इतिहास में नष्ट होता है। इस तरह इतिहास भी संक्रमणशील एक जीवन्त रूप है, जो मनुष्य के अस्तित्व में समन्वित है। मनुष्य कालावधि-संयुक्त है, इसलिए ऐतिहासिक है। वह भव-निर्माण करता है फलतः इतिहास का निर्माण करता है। सम्भवतः हेडेगर का मन्तव्य यह है कि मनुष्य हीगल और मार्क्स की ऐतिहासिक अनिवार्यता से आबद्ध नहीं है (क्योंकि मनुष्य के लिए 'ऐतिहासिक अनिवार्यता' नहीं होती, पेड़ के लिए अर्थात् वस्तु के लिए होती है), बल्कि वह स्वयं भूत काल की घटनाओं की पुनर्व्याख्या करके 'इतिहास' का निर्माण करता है। स्पष्ट है कि प्रामाणिक मनुष्य के संदर्भ में यह बात कही गई है। उसके लिए 'इतिहास' उसकी संभावनाओं की सम्पूर्ति में सहायक होता है।

मनुष्य भूतों से सम्पृक्त होता है, उन्हें 'समझता' है, इसलिए 'भाषा' की सहायता लेता है। यह हेडेगरी 'भाषा' सामान्य बौद्धिक भाषा नहीं है, जो

कथन (statement) के रूप में होती है। यह बुद्धिपूर्व अवस्था की ओर संकेत करती है, यह प्रातिभासिक है। भाषा (language) का मूल ग्रीक logos या legien की व्युत्पत्ति पर विचार करते हुए इन्हें वह भू से जोड़ता है। भू संगठित (gathered) रूप में व्यक्त होता है, यह logos है। भूत के भू को पैदा करना, व्यक्त करना legien है। व्यक्त करने और पैदा करने की मूल क्रिया से भूतत्व की भाषा निर्मित है। जब मनुष्य भूत के आवरण को चीर कर तत्रस्थ भू में प्रविष्ट होता है, उसे समझता (apprehend) है, तो शब्द आविर्भूत होता है। यह शब्द, यह भाषा भू है, भू शब्दायित हो जाता है। स्पष्ट है कि भाषा के मूल में भू की समझ अर्थात् भू के प्राकट्य की अनुभूति–प्रातिभासिक प्रतीति–की सक्रियता है। मनुष्य हेडेगर के अनुसार आधारत. वाणीयुक्त है, इसलिए भू का वाणी रूप (भाषा) होना अनिवार्य है। इस रूप में भाषा काव्य होती है, जिसमें भूत का सार (भू) प्रकट होता है। इसलिए शुद्ध भाषा भूत के संगठित सार (भू) को अनावरणित करती है। अत. वह काव्यात्मक ही हो सकती है।

इसी से मिलती जुलती हेडेगर की सत्य की धारणा है। ग्रीक शब्द की व्याख्या के द्वारा यह सिद्ध किया गया है कि सत्य अनावरण है, उद्घाटन है। मनुष्य भव में स्थित अनेक वस्तुओं को जब उनके शुद्ध रूप (भू रूप) में अनावरणित कर लेता है, तो वह सत्य को उपलब्ध कर लेता है। स्पष्ट है कि सत्य और भू का तात्त्विक सम्बन्ध है। समवत यह अनावरण भी प्रातिभासिक स्तर पर होता है, अर्थात् प्रतिभा से जब भूत भू-संयुक्त रूप में प्रकट हो, तो सत्य प्रकट होता है। मनुष्य का प्रामाणिक जीवन भी इसीलिए सत्य है।

अब हम बहुत ही महत्त्वपूर्ण समस्या 'नास्तित्व' (non being or nothing) की ओर अभिमुख होते हैं। इसका कुछ संकेत पहले दिया जा चुका है। मनुष्य मृत्यु का स्वीकार करता है, तो वह 'नास्तित्व' को ही स्वीकार करता है, क्योंकि 'नास्तित्व' जीवन का मूल और अन्त है। यह 'नास्तित्व' क्या है? हेडेगर के अनुसार यह विचारगत नकार (notional negation) नहीं है और न यह 'कुछ नहीं' (not-anything) है, जो भू का विरोधी हो। 'नास्तित्व' नकार का मूल स्रोत है और वह है, जो 'अस्तित्व' को प्रकट करता है और इस प्रकार मनुष्य के लिए अनुभूयमान है। यह भू का ही पक्ष है, भू का तिरोभाव (withdrawal) है। इस 'नास्तित्व' की अनुभूति अस्तित्व के प्रति

(modes) के द्वारा होती है, बौद्धिक क्रिया से नहीं। संत्रास के माध्यम से ही 'नास्तित्व' प्रकट होता है।

इसलिए यह तर्कातीत है। संत्रास में क्या होता है? व्यक्तिगत सत्ता के द्वारा निर्मित सुरक्षामय बोधगम्य भव की सार्थकता नष्ट हो जाती है और व्यक्ति भूतों के–भव के–प्रकृत रूप से साक्षात्कार करता है; बोधमय भव के नास्तित्व की अनुभूति होती है। इस नास्तित्व के अनुभव में भव अपने असंस्कृत, प्रकृत और ससीम रूप में प्रकट होता है और साथ ही साथ आश्चर्यजनक भू प्रकट होता है। 'नास्तित्व' में भू प्रकट होता है अर्थात् नास्तित्व भू में ही समाहित है, उसकी तिरोभाव की शक्ति में। नास्तित्व 'अभू' नहीं है। नास्तित्व इस प्रकार बुद्धि-निर्मित भव का लोप है और भू-साक्षात्कार का साधन है। यह साक्षात्कार मनुष्य में पुनः प्रारम्भिक आश्चर्यमय प्रश्न 'भू क्या है?' को जागृत करता है।

ऐसे मनुष्य का मूल्यों से क्या सम्बन्ध है? हेडेगर मूल्यों को भू के साक्षात्कार के लिए आवश्यक ही नहीं, बल्कि बाधारूप भी मानता है। मूल्य मूलतः मनुष्य की इच्छाओं का वस्तुनिष्ठ (object) रूप हैं, फलतः आत्मनिष्ठता पर आश्रित हैं। मनुष्य स्वयं से स्वतंत्र इनकी सत्ता मानने लगता है और इन्हीं से अनुशासित होकर जीवन-यापन करने लगता है फल यह होता है कि वह मूल्य की ओर जाता है, भू की ओर नहीं। इस प्रकार वह भू से दूर होता जाता है उसे भुला देता है। मूल्य भू को आवरणित करते हैं, भू के सत्य को प्रकट होने से रोकते हैं। स्पष्ट है कि यहां हेडेगर सामाजिक प्राणी द्वारा निर्मित नैतिक, राजनीतिक और कलागत मूल्यों के स्थिरीकरण का विरोध करता है। किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से वह नीति-विरोधी नहीं लगता, क्योंकि नीति-विरोध, व्यक्तिगत वृत्तियों और इच्छाओं पर आश्रित है, जिसका नाश मनुष्य के नास्तित्व के अनुभव या संत्रास की अवस्था में हो जाता है। हेडेगर के दर्शन में नैतिकता नहीं है, बल्कि सदाचार है, जैसा वैदिक 'ऋत' की धारणा में प्राप्य है।

•

अब हम हेडेगर के मत का सारांश* प्रस्तुत करने की स्थिति में शायद हैं। भू के प्रकट होने वाली, आविर्भाव संयुक्त, स्थायित्व युक्त शक्ति है, जो

* यह सारांश लेखक की समझ से प्रस्तुत किया जा रहा है, हेडेगर की भाषा में नहीं।

सर्वव्यापी है। भूत उस शक्ति का फल है, प्राकार है, जिसमें भू प्रावरणित रूप में है। भूत के दो भाग द्रष्टव्य हैं–(१) स्थूल भूत (वस्तुएं), जिनमें भू सम्पूर्ण रूप से अभिव्यक्त हो चुका है, फलतः सूक्ष्म रूप में अविस्थित है, स्थूल से आवरणित। (२) भूतत्र, जिसमें भू स्थूल और सूक्ष्म दोनों रूपों में अभिव्यक्त हो रहा है, शरीर और चेतना के द्वारा अर्थात् 'क्षेत्र' के द्वारा। इसलिए भूतत्र सीमाबद्ध भू है। भूतत्र अर्थात् मनुष्य में भू शक्ति है, जो स्वयं स्थूल भू से संयुक्त है, इसलिए उसके अप्रामाणिक होने की–स्वयं को स्थूल भूत समझने की–प्रवृत्ति है। समास का सर्जनात्मक रूप इस प्रवृत्ति को भू की ओर अर्थात् प्रामाणिकता की ओर उन्मुख करता है। प्रामाणिकता में बौद्धिक भव (Intellectual world) की असत्यता प्रकट होती है और मनुष्य भू से साक्षात्कार करता है अर्थात् स्वयं में और भूत में भू का दर्शन करता है। यह अनुभूति भाषा में प्रकट होती है और यही सत्य है।

भू मूल शक्ति है, जो चेतन-जड़ के विचारों के परे है। उसका विकास जड़ और चेतन में होता है। उसकी पुनस्मृ॑ति या अनुभूति आज के व्यक्ति (पश्चिमी व्यक्ति) के लिए अत्यन्त आवश्यक है। क्योंकि आज का पश्चिमी व्यक्ति भूत-ग्रस्त है अर्थात् विज्ञान-प्रेमी है या प्रत्यय (राजनीतिक-सिद्धान्त) प्रेमी। बुद्धि कार्य से विभक्त संसार मे जीता है। इस बुद्धि कार्य ने ईश्वर को भगा दिया है, मनुष्य की विशिष्टता को नष्ट कर उसे समूह-मानव बना दिया है, और साधारण (mediocre) को प्रमुख बना दिया है। इस बुद्धि कार्य ने मनुष्य को स्थूल भूत सदृश विषय (object) मे परिवर्तित कर दिया और स्थूल भूतों को भी उनके भवों से–सम्बन्धों से–वियुक्त कर अर्ध-सत्य की प्राप्ति की है, जिन्हें दुर्भाग्य से आज का मनुष्य पूर्ण सत्य समझकर सत्य को आवरणित कर रहा है। मनुष्य शरीर के स्तर पर अर्थात् मनोविज्ञान के स्तर पर जी रहा है, वह आत्मिक स्तर को– विश्व के ऐक्य को भूल गया है। इसलिए 'भू' के प्रश्न की प्रामाणिक आवृत्ति आज की ज्वलंत आवश्यकता है।

इसके लिए अनिवार्य है कि विचारक प्लेटो के बाद के पूरे विचार की समीक्षा करे और उसके भ्रामक प्रभाव को छोड़े। नये ढंग से मूल दृष्टि के साथ भू का प्रश्न पूछे।

●

हेडेगर का मत भारतीय उपनिषद-दर्शन के पर्याप्त समान है। भू, भूत, भूतत्व, भव, नास्तित्व आदि के समकक्ष ब्रह्म या परमभाव, जड़, जीव, (आत्मा), भव, माया आदि की धारणाएं हैं। काल की धारणा भी भारतीय धारणा से मिलती जुलती है। यहां हम सविस्तार विवेचन करने की स्थिति में नहीं हैं, केवल तद्विषयक संकेत देना अभीष्ट है।

हेडेगर भारतीय दर्शन से प्रभावित है या नहीं, निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। वह अपने ग्रंथ (Introduction to Metaphysic) में भू, भाव, अस्ति, वसति आदि संस्कृत शब्दों का उल्लेख अवश्य करता है। संस्कृत के भू, भाव, अस्ति, वसति, वद् आदि के अनेक व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थों की उपस्थिति हमें हेडेगर के मत में प्राप्त होती है–विशेष रूप से 'भाव' शब्द के अनेक अर्थ हेडेगर के भू में सन्निहित हैं।

६

ज्याँ पाल सार्त्र

(Jean Paul Sartre)

सार्त्र अस्तित्ववाद का सबसे अधिक प्रसिद्ध विचारक है। इस प्रसिद्धि का प्रमुख कारण यह है कि वह दार्शनिक के साथ बड़ा ही सशक्त कलाकार भी है। उसने उच्चकोटि के नाटक, उपन्यास और कहानियां लिखी हैं, जिनमें समकालीन यूरोप की सामाजिक, राजनीतिक और नैतिक स्थिति का बड़ा सजीव, यथार्थ, पर पीड़ादायी चित्रण हुआ है। कला, चूंकि भावनात्मक स्तर से सम्बद्ध होती है, मनुष्यों के लिए सहज ग्राह्य है, फलतः अधिक प्रभाव क्षम होती है। विश्व की बहुसंख्या सार्त्र को, उसकी कला के द्वारा ही जानती है। इस लोकप्रियता ने जहां सार्त्र के अस्तित्ववाद को अत्यधिक महत्ता दी है, वहां उसके दर्शन को गलतफहमी का शिकार भी बना दिया है। सामान्यतः लोग उसके पात्रों के गर्हित, अनैतिक, व्यावहारिक जीवन को ही सार्त्रवाद समझ लेते हैं और उस जीवन के सूक्ष्म दार्शनिक आधार को नहीं पकड़ पाते। फल यह होता है कि अधकचरे लेखक मृत्यु, संत्रास, काम-वासना, असामान्यता आदि की ही सार्त्र की दुहाई देकर उल्टी करते रहते हैं। भारत में भी साहित्य-जगत् में सार्त्र—अन्य देशों के समान—इसी रूप में गृहीत हुआ है।

कीर्केगार्द के समान सार्त्र के जीवन को भी उसके दर्शन से अलग नहीं किया जा सकता। सार्त्र का दर्शन उसके जीवन का ही परिणाम है। इसलिए सार्त्र के व्यक्तित्व की एक सूक्ष्म झांकी प्राप्त करना अत्यन्त आवश्यक है। सार्त्र का जन्म सन् १९०५ में पेरिस में हुआ। उसके परिवार में निश्चित धर्म-परम्परा नहीं थी। रोमन कैथोलिक और प्रोटेस्टेन्ट दोनों के समिश्रण को उसे प्रसाद के रूप में प्राप्त हुए। माता पिता की छोटी उम्र में ही

देहान्त होने के कारण उसे अपने नाना के साथ (Larochele में) रहना पड़ा। उसका बचपन प्रोटेस्टैंट के बीच ही बीता। इसका प्रभाव उसके दर्शन में व्यक्तिवादिता के रूप में प्राप्य है। पैरिस-विश्वविद्यालय के अध्यापक-शिक्षणमहाविद्यालय में शिक्षा प्राप्त कर वह जर्मनी में दर्शन के अध्ययन हेतु हुसरल का शिष्य रहा। फ्रांस में आने के बाद कुछ समय तक उसने स्कूल में अध्यापन किया और १९३९ में वह सेना में भर्ती हो गया। १९४० में जर्मनों द्वारा बन्दी बनाया गया और एक साल तक बन्दी जीवन के अनुभवों के पश्चात् अस्वस्थता के कारण वह मुक्त कर दिया गया। फिर वह जर्मनों के सक्रिय प्रतिरोध में लगा रहा, दर्शन का अध्यापन करता रहा। इसी समय उसने अपनी प्रसिद्ध दार्शनिक पुस्तक Being and Nothingness की रचना की। सार्त्र के इस विविध संघर्षपूर्ण जीवन का गहरा प्रतिबिम्ब उसके सिद्धान्त पर दिखाई देता है। अब वह स्वतन्त्र मसि-जीवी के रूप में ही जीवन-यापन कर रहा है। अभी पिछले वर्ष उसने नोबल पुरस्कार को अपने दर्शन से असंगत मानकर अस्वीकार कर दिया था।

●

सार्त्र का दर्शन चेतना (being-for-itself) और वस्तु (being-in-itself) के द्वैत पर आधारित है, यद्यपि अन्तिम सत्ता वह वस्तु की ही मानता है। चेतना तो केवल अभाव (lack) या अवस्तु (nothing) है। इस पर विस्तार से विचार उपयुक्त समय पर होगा, यहां इतना जान लेना पर्याप्त है कि सार्त्र का यह द्वैत देकार्त के विषयी-विषय के द्वैत से विशिष्ट है। सार्त्र देकार्त के विरुद्ध विषय (object) को प्रमुखता देता है और ईश्वर में विश्वास नहीं करता।

प्लेटिनो और हुसरल का अनुसरण करते हुए सार्त्र भी चेतना को '.. की चेतना' मानता है। चेतना सदैव वस्तु की चेतना (consciousness of something) होती है, अर्थात् वह निदिष्ट है। उसकी सत्ता वस्तु (being in-itself) पर पूर्णत. आधृत है। वस्तु न हो, तो चेतना भी नहीं होगी। यह 'चेतना' अचेतन वस्तु की चेतना है, अर्थात् इस तथ्य का आभास है कि चेतना वस्तु नहीं है, यह अवस्तु (nothing) है। चेतना का यह बोध विचार कार्य (reflection) के बिना ही सम्पन्न होता है, इसलिए यह विचार-पूर्व

बोध-कार्य (pre-reflective cogito) है, जो सामान्य (general) और अव्यक्त होता है अर्थात् इन्द्रिय-विषय-परक है। 'मैं रमेश को जानता हूँ' यह विचार-पूर्व बोध है। 'मैं जानता हूँ कि मैं रमेश को जानता हूँ'—यह प्रत्यावर्तित विचारात्मक बोध या निष्कर्ष है। पहले में जहाँ इन्द्रिय विषय (phenomenon) प्रकट होता है, सहज बोध की क्रिया सम्पन्न होती है, (क्योंकि 'रमेश को जानने' के लिए किसी विचार करने की अनिवार्यता नहीं है। यदि मैं विचार करने लग गया तो जानूँगा कैसे ?) वहाँ दूसरे में चेतना के कार्य या बोधित वस्तु पर विचार होना मूलभूत है। मैंने रमेश को जान लिया। इसके पश्चात् चेतना में विचार आया कि 'हाँ, मैं रमेश को जानता हूँ। कोई पूछे तो बता सकता हूँ कि ऐसे, यहाँ, परिचय हुआ था और ऐसा है।' इससे सिद्ध हुआ कि चेतना का मूलस्वरूप विचारपूर्व बोधात्मक है, देकार्त का विचार-विज्ञान (reflective cogito) नहीं। विचार कार्य अनुगामी या परवर्ती है।

इस चेतना की दूसरी विशेषता यह प्रकट होती है कि यह इस विचार-पूर्व रूप में अहं रहित (ego-less) है। 'मैं रमेश को जानता हूँ।' में 'मैं' सामान्य चेतना रूप है अर्थात् व्यक्तिगत पूर्वाग्रहों से मुक्त है। 'मैं' रमेश को वैसे ही जानता हूँ, जैसे राम या श्याम सामान्यतः जानता है। क्योंकि उसकी चेतना भी सामान्य इन्द्रिय विषय परक है, यह बोध (sense-perception) रूप है। अतएव इसमें 'अहं' नहीं है। इसका मतलब यह नहीं है कि सार्त्र अस्तित्ववादक एक समय की—या चेतना के 'अहं' होने की व्याख्या करता है। इसके विपरीत अनुभव की अवस्था के आधार पर वह चेतनाओं की अनेकता सिद्ध करता है। 'अहं' की विच्छिन्नता और विशिष्टता चेतना के विचारात्मक (reflection) स्तर पर उतरती है। 'अहं' चेतनोद्भूत है। उसका स्वरूप [illegible] है ? [illegible] की चेतना ——की चेतना है अर्थात् विशिष्ट (intentional) है इसका विषय है, विषय का अर्थ (जैसा पहले स्पष्ट किया जा चुका है) है वस्तु की ओर अभिमुखता या [illegible] [illegible]। [illegible]
[illegible]

मैं अपनी ही चेतना के रूप पर विचार करता हूँ । इस तरह चेतना में 'गुण' अर्थात् व्यक्तिगतता अर्थात् 'अहं' की उत्पत्ति है चेतना के विचारात्मक स्तर पर होती है ।

चेतना अवस्तु (nothing) है, 'कुछ नहीं' है । इसका अर्थ हुआ कि चेतना वस्तु (being-in-itself) के बाहर है और वस्तु नहीं है, वस्तु से भिन्न है । यह वस्तुगत कार्य-कारण नियम से इसीलिए मुक्त है, फलत. स्वतंत्र है । इसकी गति का भाविकथन नहीं किया जा सकता । सार्त्र चेतना को 'कुछ नहीं' ही नहीं मानता, सब प्रकार के नकारों (negations) की जननी भी मानता है । नकार अवस्तु या 'कुछ नहीं' से ही उत्पन्न हो सकते हैं, वस्तु या 'है' से नहीं । फलतः यह 'कुछ नहीं' इस चेतना में ही है, जिससे चेतना निस्सार सिद्ध होती है, इसका कोई निश्चित स्वभाव (human nature) नहीं माना जा सकता । यह खोखली है, अभाव है । इसी कारण से यह वस्तु की ओर स्व से गमन (transcend) करती है । सामान्य जीवन मे प्राप्त मनुष्य की चेतना के तीन कार्यों के द्वारा सार्त्र यह सिद्ध करता है । हम दैनिक जीवन मे प्रश्न करते हैं, विनाश देखते हैं और करते हैं तथा निषेधात्मक निर्धारण करते हैं ।* एक उदाहरण से इसे समझें । क्या रमेश कमरे में है ? इस प्रश्न मे ही 'न होने' की संभावना निहित है । रमेश कमरे मे हो सकता है, उसी प्रकार नहीं भी हो सकता । स्पष्ट है कि प्रश्न नहीं होगा तो इस 'नहीं होने' की संभावना ही नहीं होगी । प्रश्न मन में उपजता है, इससे सिद्ध होता है कि मन में प्रस्तुत विषय से सम्बन्धित 'कुछ नहीं' है, अभाव है । इस प्रकार प्रश्न का उत्पादन चेतना के अभाव (nothing) को सूचित करता है और प्रश्न का उत्तर नकार या अवस्तु (negative and non-being) की सर्जना । मान लीजिए इसका उत्तर यह है कि रमेश कमरे मे नहीं है । रमेश का कमरे मे 'न होना' (non-being) अर्थात् 'नहीं' इस उत्तर के द्वारा ही सर्जित होता है । कमरे अर्थात् वस्तु के लिए रमेश का 'न होने' का कोई अस्तित्व नहीं है । कमरा कमरा है, चाहे रमेश हो या सुरेश हो या दोनों नहीं हों । अब प्रश्न यह होता है कि यदि इस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक (affirmative) हो तब ? तब भी सार्त्र के अनुसार नकार होगा । 'कमरे में रमेश है ।' इस उत्तर मे कमरे की बहुत सी

---

* Interrogation, destruction and negative judgement.

अन्य वस्तुओं को नकारा गया है। अंशोर में कमरे को ही नकारा गया है, क्योंकि 'रमेश है' में 'रमेश' के अतिरिक्त अन्य वस्तुओं को चेतना से हटा दिया (eliminate) गया है और इस तरह नकार की सृष्टि हुई है।

'तूफान ने बहुत से मकान गिरा दिये।' 'गिलास फूट गया।' आदि अनेक विनाशात्मक उक्तियों की यथार्थता हम दैनिक जीवन में अनुभव करते हैं। हम स्वयं भी विनाश करते हैं और मर्त्य हैं, इसलिए विनष्ट होते हैं या हो सकते हैं। 'तूफान' मकान नहीं गिराता, हमारी द्रष्टा चेतना उसे गिराती है। क्योंकि तूफान तो अपनी क्रिया करता है, 'मकान है' इससे वह निरपेक्ष है। इसी प्रकार मकान भी नहीं 'गिरता' है, उसे 'गिरना' और 'उठना' ज्ञात ही नहीं। वस्तु के आणविक विधान में जो परिवर्तन होता है, उसकी प्रतीति अचेतन वस्तु को नहीं होती, केवल चेतना को होती है। इसलिए 'गिराना' 'गिरना' 'फूटना' 'टूटना' 'मरना' आदि विनाशात्मक क्रियाओं का अर्थात् अभाव का जन्म चेतना से ही होता है।

नकारात्मक निर्धारण (negative judgement) के द्वारा भी चेतना अभाव या अवस्तु (non-being) को उत्पन्न करती है। मैं कमरे में जाता हूँ और चारों ओर देखकर निर्धारण करता हूँ कि रमेश नहीं है अर्थात् कुछ वस्तु नहीं है। फलत. चेतना के द्वारा ही यह अभाव प्रादुर्भूत होता है।

इस प्रकार यही निष्कर्ष प्राप्तव्य है कि अभाव या नकार वस्तु (being-in-itself) में नहीं है, फिर भी वह वस्तु के आधार पर खड़ा होता है। चेतना इसे वस्तु की भूमिका पर निर्मित करती है। मानवीय यथार्थ बोधाश्रित होने के कारण चेतना के बिना नहीं रह सकता। वस्तु में बोध नहीं है। वह जानती नहीं है, केवल चेतना ही जानने का काम करती है और इस निरन्तर ज्ञान-कार्य के द्वारा यह विश्व में नकार पैदा करती है। मनुष्य की चेतना सर्वत्र इन नकारों के द्वारा विश्व का वर्गीकरण, सीमा-निर्धारण और व्यवस्थन करती रहती है अर्थात् वह नये विश्व का निर्माण करती है—वस्तुओं का नव सर्जन करती है। इसीलिए सार्त्र का विश्व 'मेरा विश्व' (my world) है, जिसका चेतनात्मक स्वरूप है, वस्तुगत निरपेक्ष स्थिति मात्र नहीं है। यह चेतना द्वारा सर्जित विश्व है। चेतना अवस्तु है, इसलिए इसका धर्म नकारना (nihilation) ही है। इसका अर्थ सकलवस्तु की अनुपस्थिति (the absence of all being) केवल स्थूल वस्तु का अभाव (absence or negation of some

concrete being) है । अर्थात् चेतना स्थूल वस्तु नहीं है, सूक्ष्म है और इसमें गति (activity) के अतिरिक्त कुछ नहीं है । वस्तु से बाहर और वस्तुगत गुणों से रहित होने के कारण ही यह स्वतन्त्र (free) है । फलतः मानवीय सत्ता या चेतना स्वतन्त्र है स्वतन्त्रता ही है । इसीलिए मनुष्य का कोई निश्चित सार (essence) स्थापित नहीं किया जा सकता । उसकी स्वतन्त्र गति सदैव स्व का नव सर्जन करती रहती है । फलतः सब शाश्वत परिभाषाओं का अतिक्रमण करती रहती है ।

व्यक्ति इस स्वतन्त्रता के प्रति सचेतन आतंक (anguish) के द्वारा होता है । आतंक (anguish) स्व-ज्ञान का डर है, जो अनेक सम्भावनाओं के सामने सामने होने पर व्यक्ति में हिचक उत्पन्न करता है । वरण करने का–चुनाव करने का डर और उस चुनाव का उत्तरदायित्व लेने का भय ही आतंक (anguish) है । यह आतंक (anguish) स्वतन्त्रता की विशिष्टता है अर्थात् स्वतन्त्रता का भान होते ही आतंक (anguish) की अभिव्यक्ति हो जाती है । अनेक व्यक्तियों में यह नहीं उपजती, क्योंकि वे कभी स्व पर विचार नहीं करते अर्थात् नैतिक स्तर पर नहीं जीते, केवल स्थापित मूल्य, व्यवस्था या परिपाटी के आदेशों के अनुसार कार्य करते हैं । यदि कभीकभार उन्हें इसकी अनुभूति होती भी है, तब भी वे इस पर सोचने के बजाय इससे दूर भागते हैं–किसी धर्म या दर्शन के सिद्धान्त की निश्चितता की ओर । और इस प्रकार अपनी जिम्मेदारी के बोझ या दुख से बचने की कोशिश करते हैं ।

•

चेतना 'कुछ नहीं' है, फलतः यह अभाव (lack) और एषणा (desire) है । अभाव वस्तु में नहीं होता, क्योंकि वस्तु तो अपने प्रत्येक रूप में अचेतन होने के कारण भाव और पूर्ण होती है । अभाव मानवीय चेतना के साथ ही उपजता है । चांद आधा है, पूरा नहीं है–यह 'पूरेपन' का अभाव चेतना द्वारा ही सर्जित होता है अर्थात् चेतना ही अभावग्रस्त है । पूरे चांद की संभावना से चेतना चांद के अधूरेपन को, अभाव को महसूस करती है । चेतना प्रदत्त तथ्यों के आगे जाकर समाश्रय का रूप निर्माण करती है । यह क्रिया ही अपने आप में चेतना में उपस्थित अभाव का परिणाम है । इसी प्रकार एषणा भी वस्तु न होने के अभाव की अनुभूति है । चेतना पूर्णता (totality) प्राप्त करना

को भूत, वर्तमान और भविष्य में विभाजित करती है। फिर चेतना का भूत क्या है? चेतना का ठोस रूप (solidification of the for-itself) ही चेतना का भूत काल है, यह वस्तु (in-itself) के समान हो जाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि 'मेरा भूत काल सम्भावना विहीन निष्क्रिय सत्ता बन गया है' और चेतना का विषय (object) हो गया है, विषयी नहीं। चेतना अन्य विषयों के समान इस विषय का भी अतिक्रमण करती है।

वर्तमान के बारे में सार्त्र मौलिक-रीति से विचार करता है। उसके अनुसार दार्शनिकों और सामान्य मनुष्यों ने वर्तमान के महत्व को भुला दिया है। वर्तमान का मतलब किसी वस्तु के सम्मुख (मानसिक रूप में) उपस्थित होना है और यह अनुपस्थित होने का विरोधी है। स्पष्ट है कि यह उपस्थिति-अनुपस्थिति चेतनाश्रित है। इसीलिए वर्तमान चेतना की वस्तु के प्रति उपस्थिति है, साक्षी है, यह प्रतीति है कि मैं वस्तु नहीं हूं। अतः वर्तमान वस्तु का सक्रिय नकार है या तत्र-स्थित वस्तु का अतिक्रमण है। इस प्रकार वर्तमान भूत के समान स्थिर न होकर गतिशील (flight) है और भूत से भविष्य की ओर भाग रहा है। सार्त्र की यह वर्तमानविषयक धारणा वस्तु के प्रति मस्तिष्क की तत्परता ही प्रतीत होती है।

इसी प्रकार भविष्य भी चेतनाश्रित है। मानवीय चेतना के बिना भविष्य की भी कोई स्थिति नहीं है। चेतना 'जानती' है योजना बनाती है अर्थात् भविष्य की ओर गमन करती है और पुनः स्वोन्मुख होती है। भविष्य—सार्त्र की भाषा में—चेतना का चेतना से सम्बन्ध है (relation of self to self) अर्थात् मेरी वर्तमान की चेतना गतिशील होने से जिस भावी चेतन रूप की कल्पना करती है, उसी भावी रूप का पूर्व चेतना से सम्बन्ध भविष्य के द्वारा स्थापित होता है। इसको यों भी समझा जा सकता है कि चेतना अभाव रूप है, बाद के अधूरेपन की साक्षी (witness) है और इसी वर्तमान अधूरेपन (अभाव) के कारण वह भावी पूरेपन (भाव) की कल्पना करती है। अधूरेपन और पूरेपन में दूरी है, सम्बन्धराहित्य है, इस सम्बन्ध का चेतन विधान ही भविष्य है। इस प्रकार भविष्य चेतना के अभाव की पूर्ति का प्रयत्न है, चेतन और वस्तु की सह-उपस्थिति (co-presence) की एषणा-पूर्ण चेतना का यह अभाव कभी पूरा नहीं होगा, चेतना कभी भी वस्तुरूप नहीं हो पायेगी अर्थात् सह-उपस्थिति की अवस्था नहीं प्राप्त कर सकेगी। इस प्रकार प्रत्येक भविष्य या भावी पूर्णता का सपना या प्रयत्न भूत बनता जायेगा तथा

मानव निरन्तर इस निष्फल गति में पिसता रहेगा।

भूत संभवानारहित है, जबकि भविष्य चेतना की स्वतन्त्रता से बिद्ध है अनिश्चित है। फलतः 'हो सकेगा' और 'नहीं हो सकेगा' की अस्थिरता (fragility) का शाप मनुष्य पर सदैव रहेगा। भविष्य की इसी अनिश्चित समस्या-रूप अर्थात् 'स्वतंत्र' सत्ता से मनुष्य में आतंक (anguish) पैदा होता है।

सार्त्र समय में एक विशेष आंगिक एकता (organic unity) देखता है। यह एकता द्विविध है.-(१) समय में एक निश्चित तारतम्य (पूर्व-पश्चात् का क्रम) है, जिसे स्थिर समकालिकता (temporality) कहा जा सकता है और (२) समय में विशेष परिवर्तन का मार्ग भी द्रष्टव्य है, जिससे वर्तमान भूत बन जाता है। यह गतिशील temporality है। यह विभाजन कांट से प्राप्त किया गया है, पर उतना स्पष्ट नहीं है। इसलिए कुछ विस्तार से विचार करना आवश्यक है।

(१) विश्व अथवा मानवीय यथार्थ का स्थिर समकालिक रूप पूर्व और पश्चात् में बंटा हुआ है। इस समय की इकाई क्षण (instant) है, जो स्वयं भी कुछ क्षणों के 'पूर्व' है और कुछ अन्य क्षणों के 'पश्चात्' स्थित है। इस प्रकार यह क्षण समय-क्रम में बद्ध होने के कारण समकालिक बनता है, यद्यपि स्वयं में यह शाश्वत (intemporal) है। क्षणों का परस्पर सम्बन्ध देकार्त आदि विचारकों के लिए कठिन समस्या रहा है, किन्तु सार्त्र इसका सरलता से निराकरण कर देता है। उसके अनुसार क्षण का सम्बन्ध वस्तु में नहीं, चेतना में है। यह चेतना ही 'पूर्व और पश्चात्' का सम्मिलन करती है अर्थात् क्षणों को जोड़ती है। चेतना ही समय में एकता लाती है तथा उसके क्रम का निर्माण करती है। चेतना रूप से अनेक दिशाओं में बहिर्मुख होती है। वस्तुगत भूतकाल मेरा पूर्व है और भविष्य मेरा पश्चात्। सार्त्र भूतकाल को वस्तुगत मानता है, तो भी वस्तु और भूतकाल में थोड़ा अन्तर करता है। कलम वस्तु है। पर कलम की चेतना में कलम का नकार सदा है अर्थात् 'चेतना कलम नहीं है' की प्रतीति होती है। किन्तु भूतकाल वस्तुगत होते हुए भी—दूसरे शब्दों में, चेतना द्वारा नकार किए जाने पर भी—चेतना से संयुक्त रहता है और इसके सब कार्यों के लिए भूमिका का कार्य करता है। भूतकाल वस्तु के समान पीछे छूटता या वस्तु की तरह स्पष्ट नहीं होता सदैव साथ रहता है। वह सा

(knowledge) का रूप धारण कर लेता है। इस प्रकार चेतना भूत की ओर गमन करती है।

चेतना का दूसरा गमन (ecstacy) भविष्य की ओर होता है। वह सम्पूर्ति के प्रयास में यथास्थिति से निकल कर भविष्य में कूद पड़ती है। उसकी चेष्टा रहती है कि चेतनगुणों के सहित वह वस्तुरूप हो जाये। यह कार्य असंभव है, अमूर्त आदर्श है। चेतना का तीसरा गमन वर्तमान-संबद्ध है। वर्तमान के द्वारा ही चेतना सब जगह (भूत-भविष्य) होती है और कहीं भी नहीं होती (नकाररूपा होने के कारण)। चेतना का यह गमन अनिवार्य है, क्योंकि इसी के आधार पर सारे प्रारूप और प्रायोजन निर्मित होते हैं, भूत और भविष्य का संस्कार होता है। संक्षेप में यह गमन अन्य गमनों का आधार है। फिर भी इसकी सत्वविद्यागत पूर्वता (ontological priority) सार्त्र नहीं मानता है।

संक्षेप में सार्त्र का 'समय' सार्वभौमिक और सार्वकालिक नहीं है। यह वस्तु नहीं है और न चेतना का विकास है, बल्कि चेतना का अर्न्तविधान (intra-structure) ही है। चेतना के स्व-धर्म के लिए समय का अन्तराल मूलभूत है।

(२) गतिशील समकालिकता (temporality) में वर्तमान से भूत और भविष्य की ओर गमन क्यों होता है, का समावेश किया गया है। परम्परागत विचार है कि 'परिवर्तन' जो 'उन्नति' का आधार है हो इस क्रिया के लिए उत्तरदायी है। सार्त्र इस मत से सहमत नहीं है। उसके अनुसार उन्नति का मूल परिवर्तन नहीं है, बल्कि चेतना का मूलभूत अभाव ही उन्नति का कारण है। इस तरह चेतना ही 'समय' के जन्म का कारण है। चेतना स्वभावत: ही क्षण और भूत को अस्वीकार करती है और भविष्य की ओर गमन। चेतना गतिशील है इस कारण वह भूत और वर्तमान से भविष्य की ओर गमन करती है। 'भूत और वर्तमान से' इसलिए उसके इस गमन में भविष्य के साथ साथ ये दोनों भी समाहित हैं।

●

* चेतना की दूसरी क्रिया विचार या मनन (reflection) है। सार्त्र की मूर चेतना विचार पूर्व महत्स्थित चेतना है, आभास रूप है। इस चेतना का

सम्बन्ध और सम्पर्क वस्तु से होता है अर्थात् यह वस्तु से सदैव नकारात्मक रीति से संलग्न है। यह वस्तु की चेतना है, जबकि विचारक चेतना स्व की चेतना है। यह चेतना में द्वैत पैदा करती है, विचार करने वाली चेतना और जिस पर विचार किया जा रहा है, वह चेतना। यहां पर चेतना स्वयं विषय (object) हो जाती है और विचारक चेतना विषयी (subject) बन जाती है। 'मैं हूं' की अनुभूति या आभास विचार पूर्व मूल* चेतना है, जबकि 'मैं विचार करता हूं कि मैं हूं' विचारक चेतना है। यह देकार्त की चेतना है। सार्त्र के अनुसार मूल चेतना वस्तु और स्वयं में जिस प्रकार अभाव, अवस्तुत्व कुछ नहीं (nothing) देखती है, उसी प्रकार मूल चेतना और विचारक चेतना में भी 'कुछ नहीं' का सम्बन्ध है अर्थात् असमानता और द्वैत है। स्पष्ट है कि इस विभाजन के कारण द्वैत और अलगाव बाहर ही नहीं भीतर भी पहुंच जाता है, आन्तरिक नकार चेतना का खण्डित और विभक्त रूप उपजता है। चेतना स्वयं से ही भागने लगती है, अर्थात् स्वयं का भी अतिक्रमण करती है। बाहरी अलगाव प्रायः सब दार्शनिकों का प्रारम्भ से ही विषय रहा है, किन्तु अलगाव की सर्वव्याप्ति—बाहर-भीतर समान स्थिति—का विचार सार्त्र का मौलिक है जो मनोवैज्ञानिक अधिक है। सार्त्र में आकर अलगाव (isolation) और विच्छिन्नता (alination) पूर्णता प्राप्त कर लेते हैं।

यह विचारक चेतना दो प्रकार की है। पहले प्रकार में यह शुद्ध विचार (pure reflection) है। विचार का कार्य—अपने शुद्धतम और सरलतम रूप में—विचारक चेतना की नग्न वैचार्य चेतना के सम्मुख उपस्थिति मात्र है। कुछ विशेष प्रकार की हल्की समानता (Identity) उनमें होती है। फिर भी—चूंकि ज्ञान (knowledge) बीच में आ जाता है—नकार (negation) होना अनिवार्य है, जिससे भिन्नता जनमती है। विचारक चेतना वैचार्य चेतना के भूत, वर्तमान और भविष्य के तीनों आयामों में संयुक्त रूप की खोज (exploration) करती है। शुद्ध विचार में वैचार्य चेतना के भाव, वृत्ति, इच्छादि के विकार नहीं होते। यह इस रूप में केवल आभास मात्र या प्रतीति मात्र होती है। इसे यों भी समझा जा सकता है कि मूल चेतना द्वारा वस्तु के सम्पर्क से तुरीय ज्ञान ही चेतना में द्वैत उत्पन्न करता है और विचारक

---

* 'मूल' शब्द का प्रयोग मैं अपनी तरफ से विषय को अधिक सुविधापूर्ण बनाने के लिए कर रहा हूं।

चेतना इसी ज्ञान पर आश्रित है। एक उदाहरण से इसे समझें। मैं सबसे पहले फूल देखता हूं, इसके रंग, गंध आदि की प्रतीति मुझे होती है। फिर कुछ दिनों बाद मैं इस फूल की प्रतीति को याद करता हूँ अर्थात् अपनी प्रतीति अर्थात् चेतना पर विचार करता हूँ तो फूल से प्राप्त ज्ञान ही इस विचार का आधार है। यह शुद्ध इसलिए है कि इसमें प्रतीति मात्र है। यदि इसमें भाव अर्थात् फूल के प्रति आकर्षण या मोह उत्पन्न हो जायेगा, तो यह चेतना अशुद्ध हो जायेगी। फलतः विचार भी अशुद्ध होगा। संक्षेप में, यदि चेतना में मानसिक जीवन (भाव, वृत्ति, इच्छा आदि) समाहित हो जाये, तब चेतना का विचार कार्य अशुद्ध बन जायेगा। यही सार्त्र की भाषा में **अशुद्ध विचार** (Impure reflection) है।

मूल चेतना और विचारक चेतना का अन्तर स्पष्ट करते हुए सार्त्र ने लिखा है कि मूल चेतना में वस्तु से, विश्व से या विशेष बाहरी विषयों से सम्बद्ध होने के लिए अनेक कार्य सम्पादित होते हैं। इनमें सम्बन्ध-विधान तो हो जाता है, किन्तु इन अनेक विध सम्बन्धों की समझ (apprehension) विचार (reflection) के द्वारा ही प्राप्त होती है। प्रेम, घृणा आदि के समझ पर आधारित सम्बन्ध विचार से ही उत्पन्न होते हैं। 'मैं सोमा से प्रेम करता हूं'—में 'प्रेम' मूल चेतना की प्रतीति का वैचारिक रूप ही है। इसमें यह भी सिद्ध होता है कि सार्त्र वृत्तियों को चेतना के क्षेत्र में नहीं ग्रहण करता, बल्कि उनको वस्तु (in-itself) क्षेत्रीय मानता है। वे स्वतन्त्र नहीं हैं, शरीर के कोशाणुओं में बद्ध हैं। इसलिए अशुद्ध विचार से ही यह वृत्तियों का मानसिक जीवन (psychic life) चेतना में प्रकट होता है। यही विचार हमें 'दूसरे' का ज्ञान देता है। 'मैं सोमा से प्रेम करता हूँ' में स्थित 'प्रेम' के द्वारा ही 'सोमा' के भिन्न अस्तित्व से 'मैं' परिचित होता है। इसका यह अर्थ हुआ कि **अशुद्ध विचार** यथास्थित सामाजिक जीवन का आधार है।

•

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट हुआ कि मानवीय चेतना अतिक्रमणशील और स्वतन्त्र है। यह अलगाव पर आश्रित है और भोगती है। फलतः यह दुश्चिन्ता, भय और पीड़ा पैदा करती है। इसका परिणाम यह होता है कि साधारण व्यक्ति इस चेतना से बचने की चेष्टा करता है। वह अपने अहम

सहज चेतन रूप को भूलकर वस्तु बनने का प्रयास करता है, जिससे स्वतन्त्रता, वरण और तज्जन्य उत्तरदायित्व के बोझ की पीड़ा से बच सके। उसका यह कार्य भी चेतना के ही अन्तर्गत होता है। इसे सार्त्र आत्म-प्रवंचना (bad faith) के नाम से अभिहित करता है।

आत्म-प्रवंचना भी एक प्रकार का निषेधात्मक (negative) दृष्टिकोण है। आत्म-प्रवंचना और झूठ में फर्क है। झूठ 'तू' और 'मैं' के सत्व विधा-गत (ontological) द्वैत के दुरुपयोग पर आधारित है। 'मैं' 'तुम' से स्वयं में कुछ छिपाता है, किन्तु स्वयं 'मैं' के लिए यह अनावृत अर्थात् 'सत्य' रहता है। झूठ 'तू' के लिए है, 'मैं' के लिए नहीं। आत्मप्रवचना में व्यक्ति सत्य को स्वयं से ही– अपने से ही– छिपाता है और यह भी समय के भिन्न भिन्न क्षणों में नहीं, बल्कि उसी वर्तमान क्षण की इकाई में ही यह कार्य घटित होता है। एक ऐसी मानसिक एकता के स्तर पर आत्म-प्रवंचन सक्रिय रहता है कि सत्य एक साथ प्रकट किया जाता है और छिपाया जाता है, स्वीकार किया जाता है और अस्वीकार भी, उसे अनावरणित किया जाता है और आवरणित भी। यह विरुद्धधर्मी कार्य एक साथ एक समय होता है। फ्रायड आदि मनोवैज्ञानिक भी इस विरुद्धधर्मिता (ambivalance) को स्वीकार करते हैं, किन्तु वे इसमें से किसी एक को मन के अहं, वृत्ति या विवेक (super ego) विभागों मे से किसी एक मे समाहित कर देते हैं। सार्त्र को फ्रायड का यह मानसिक विभाजन मान्य नहीं है। वह अचेतन (unconscions) की सत्ता को ही अस्वीकार करता है। फलतः यह सारा कार्य— व्यक्ति–मनों की गति की अनेकमुखता चेतना पर ही आधृत है।

आत्म-प्रवचना में दो परस्पर विरुद्ध (contradictory) भावनाएं व्यक्ति के मन मे एकान्वित हो जाती हैं। धारणा और उसका नकार दोनों एक साथ मन में रहते हैं। इस अवस्था मे यथार्थ और आदर्श (idealization) का अद्भुत सम्मिश्रण उत्पन्न होता है, जो गलत है। क्योंकि इसमे यथार्थ की और आदर्श दोनों की अवहेलना होती है। सार्त्र की चेतना मूल मे ही विरुद्ध-स्वरूपी है, यह वह है, जो वह नहीं है और यह वह नहीं है, जो वह है।* जो है, वह सार्त्र की भाषा में तथ्यता

---

* "It is what it is not, it is not what it is" Introduction to being and nothingness--Sartre.

(facticity) है और जो नहीं है, वह अतिक्रमणशीलता (transcedence) है। फलतः चेतना यथार्थधर्मी है, वर्तमान है, शरीर-स्थित है, फिर भी वह यही नहीं है, वह भविष्योन्मुखी, अतिक्रमणशील और अशरीर अर्थात् 'कुछ नहीं' है। आत्मप्रवंचना में एक साथ चेतना 'है' और 'नहीं' के वृत्त में फंसी रहती है। इसमें से एक का नकार किया जाता है अर्थात् स्व का नकार होता है। या तो यथार्थ को छोड़ दिया जाता है, या उसके अतिक्रमण की अवहेलना की जाती है। अतिक्रमण को यथार्थ अथवा यथार्थ को अतिक्रमण समझा जाता है। शायद यह अशुद्ध विचार के कारण संभव होता है। यह क्षणस्थायी और परिवर्तनशील है, फिर भी कुछ व्यक्तियों के सम्पूर्ण जीवन को वशीभूत किये हुए रह सकती है। विशेष पद्धति से तथा सामान्य जीवन इसका उदाहरण है, जहां अन्य के अतिक्रमण अर्थात् आदर्श को ही जीवन का यथार्थ स्वीकार कर लिया जाता है।

सार्त्र के एक अतिप्रसिद्ध उदाहरण पर हम ध्यान दें। एक स्त्री किसी पुरुष के साथ घूमने जाने के लिए तैयार हो गई है। वह अच्छी प्रकार जानती है कि उस पुरुष का इरादा कामुक है और उसे उस विषय में यदाकदा निर्णय लेना है। पर वह इस निर्णय को टालती रहती है और यह सोचती रहती है कि उस पुरुष में केवल सम्मान और आदर्श ही हैं, उन्हें ही वह ग्रहण करती रहती है। वह जानते हुए भी शारीरिक आकर्षण और मांग की अवहेलना करती है अर्थात् वह अपने व्यवहार को वर्तमान में बद्ध कर देती है। वर्तमान में वह वर्णित सम्मान, आदर्श या वायवी प्रेम की ही बात करता है, उसे ही वह यथार्थ तथ्य मानती है। यदि वह कहता है कि 'तुम कितनी सुन्दर हो' तो वह इस 'सुन्दर' से कामुकता या शारीरिकता निकाल देती है और उसे वस्तुपरक (objective) रूप से काम-निरपेक्ष तरीके से स्वीकार करती है, जैसे वह मेज को सुन्दर कहा रहा हो। इसी प्रकार वह उस व्यक्ति के सम्मान और व्यवहार को भी मेज के गुणों के स्तर पर ही ग्रहण करती है। फिर भी पुरुष की कामना की प्रतीति उसे होती है, किन्तु इस नग्न कामना से अकर्षित होकर वह उसे नकारती है। इसलिए केवल श्रद्धा, सम्मान आदि के भावों से ही स्व को भर लेती है। मान लीजिये वह पुरुष उसका हाथ पकड़ लेता है। अब तो कामना जागृत होगी, उसे निर्णय करना पड़ेगा कि इसमें साथ जाऊं या नहीं अर्थात् इससे यौन-सम्बन्ध स्थापित करूं या नहीं। पर ऐसी स्थिति में भी वह आत्मप्रवंचना कर सकती है। हाथ उसी तरह हाथ में एक

वस्तु—एक कलम के समान—पड़ा रह सकता है। हो सकता है कि उस समय वह केवल बौद्धिक स्तर पर ही विचरण कर रही हो, वह अपने जीवन की, सामान्य जीवन की बातें करती रहे और वासना उद्दीप्त न हो या वह इस उत्तरदायित्वपूर्ण निर्णय को इस प्रकार टालती रहे। स्पष्ट है कि ऐसी अवस्था में शरीर और मन का विभाजन पूर्ण हो चुका होता है। यथार्थ नकारा जा रहा है और अतिक्रमण यथार्थ बनाया जा रहा है, जिसका फल यह हुआ कि अतिक्रमण भी अस्वीकार किया जा रहा है।

यह स्त्री आत्मप्रवंचक है। वह पुरुष को वस्तु समझ रही है और उसके अतिक्रमण को नकार रही है, अपने यथार्थ अर्थात् वासना का अतिक्रमण कर रही है। अन्त में अपने शरीर के यथार्थ को भी नकार रही है। उसे भी 'मेज' जैसी वस्तु समझ रही है। फलतः वह निर्णय के क्षण से बच रही है। इससे स्पष्ट हुआ कि आत्मप्रवंचना में व्यक्ति अतिक्रमण को यथार्थधर्मिता और यथार्थधर्मिता को अतिक्रमण के रूप में एक ही समय में धारण कर लेता है। यह चेतना की अस्पष्टता और अशुद्धता के कारण होता है। चेतना के शुद्ध स्वरूप—स्वतन्त्रधर्मी गति—के अज्ञान से ऐसा होता है, जिसके मूल में निर्णय के क्षण को टालने की वृत्ति क्रियाशील है। इस प्रकार और भी अनेक उदाहरण हमें जीवन और भाषा में प्राप्त होते हैं। एक भाषिक अभिव्यक्ति पर भी विचार प्रसंगानुकूल होगा। 'प्रेम प्रेम से बहुत अधिक है।'* सार्त्र के अनुसार यहाँ दो विरोधी धारणाओं में एकता स्थापित की गई है। दूसरे 'प्रेम' शब्द में यौन-सम्बन्ध का संकेत है अर्थात् यथार्थधर्मिता (facticity) है, जब कि पहले 'प्रेम' शब्द के द्वारा अतिलौकिक आत्मिक प्रेम की व्यंजना है। आत्मिक प्रेम यथार्थ का अतिक्रमण है। किन्तु यहाँ 'प्रेम' में दोनों को मिला दिया गया है। यह अवेगों का खेल है। अतिक्रमण को यथार्थ, भविष्य को वर्तमान के रूप में, सूचित किया गया है। दर्शित आत्मप्रवंचना है। यह आत्मप्रवंचना का मानसिक स्तर है।

आत्मप्रवंचना का दूसरा रूप हमें समाज में प्राप्त अनेक व्यक्तियों के व्यवहार में दिखाई देता है। समाज में व्यक्ति किसी विशिष्ट आदर्श, विचार, रुचि, पद आदि का स्वरूप और नियमों के अनुकूल अपने जीवन का [illegible] का प्रयत्न करता है। यह बाहरी स्तर की आत्मप्रवंचना है क्योंकि यह इस

* 'Love is much more than love' —Jacques Chardonne की एक पुस्तक का शीर्षक है।

स्थिति में स्वतन्त्र जीवी न होकर परार्थ-जीवी (being-for-the-others) हो जाता है। सार्त्र होटल के सेवक (waiter) का उदाहरण लेता है। सेवक एक विशेष वेशभूषा में सज्जित एक विशेष निश्चित प्रकार से व्यवहार करता है। यदि वह स्वयं को पूरी तरह से 'सेवक' समझ लेता है, जो कि समाज की माग है, तो वह वस्तु बन जाता है और अपनी अतिक्रमणशील चेतना को नकारता या अस्वीकार करता है। किन्तु यह भी सत्य है कि वह 'मेज' जैसी वस्तु नहीं बन सकता, क्योंकि उसका सेवक होना भी चेतना पर ही आश्रित है। वह 'जानता' है कि उसे एक विशेष समय पर उठना है और विशेष कार्य करना है। इसलिए वह पूरी तरह स्वयं को 'सेवक'—एक वस्तु—नहीं बना सकता। फिर भी वह इस विचार को छोड़ता नहीं है। वह यही याद नहीं रखता कि 'सेवकपना' तो एक अभिनय है, क्रिया है। इसलिए उसी क्रिया की सीमा तक उसके व्यक्तिगत यथार्थ का भाग है, यह उसके यथार्थ की, चेतना की समाप्ति या पूर्णता नहीं है। यह परार्थ-जीवी की आत्मप्रवचना है।

इसी धुन में सार्त्र ईमानदारी (sincerety) का विवेचन करता है। सामान्यत. ईमानदारी को आत्मप्रवचना की विरोधार्थी धारणा समझा जाता है। सार्त्र इसकी विरोधार्थिता को स्वीकार करता है, किन्तु इनके मूल में एक ही चेतन-प्रवृत्ति को मानता है, 'ईमानदार' होने का अर्थ है व्यक्ति जो कुछ भी है, सच्चाई से वैसा ही हो। अर्थात् उसका एक स्थिर स्वरूप हो जाये, उसमें अतिक्रमण और अभाव न रहे। उसका आदर्श पूर्णत यथार्थ हो जाये। यह असंभव है, क्योंकि स्थिर और पूर्ण यथार्थ तो वस्तु (in-itself) ही है, चेतना नहीं। अधिक से अधिक यह स्वीकार किया जा सकता है कि यह चेतन व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह जो है (आदर्शरूप) वैसा (यथार्थ रूप में) होने का प्रयत्न करे, जैसे एक होटल का 'सेवक' प्रयत्न करता है। व्यक्ति वस्तु नहीं हो सकता इसलिए 'ईमानदारी' की सभावना भी अंधविश्वास या एक इच्छा पर आश्रित है, जो मनोवैज्ञानिक रूप से आत्मप्रवचना जैसी ही है। ईमानदारी में अतिक्रमण को पूर्ण यथार्थ बना दिया जाता है, जो भ्रम है, मिथ्या प्रतीति है। चेतना की प्रवाहशीलता 'ईमानदारी' की स्थितिपरकता या निश्चितता को असभव बना देती है। इसलिए 'ईमानदारी' दार्शनिक स्तर पर असम्भव है।

इसी प्रकार चोर सदैव चोर हो रहेगा या साधु सदैव साधु हो—इस प्रकार के विचार भी आत्मप्रवचना के ही रूप है। चोर की चेतना कभी भी

'चोर' की सीमा को पीछे छोड़ सकती है और साधु कभी भी असाधु हो सकता है। चोर को चोर समझने में चेतना के अतिक्रमण की अवहेलना की गई है और यथार्थ में ही इसे समाविष्ट कर दिया है, जब कि 'साधु को साधु' में यथार्थ को हटाकर 'अतिक्रमण' को ही यथार्थ बना दिया गया है। हमारे न्यायालय, जन जीवन के नेतागण प्रायः इसी प्रकार आत्म-प्रवंचना के स्तर पर कार्य करते हैं।

यह आत्म-प्रवंचना क्यों पैदा होती है? आत्मप्रवंचना एक श्रद्धा या विश्वास (faith) है, जिसमें निर्णय की सुदृढ़ता नहीं होते हुए भी इतनी शक्ति है कि वह व्यक्ति में अनन्त काल तक सजीव रह सके। यह चेतना के मूल स्वरूप में जो 'है-नहीं' और 'नहीं-है'* की दरार है, उसी अस्पष्टता और अनिश्चितता से उत्पन्न होती है। दूसरे प्रकार से यदि अपने शब्दों में कहें तो चेतना के वर्तमान से भविष्य की ओर गमन की अनिश्चितता और वर्तमान से उसकी सजीव सम्पृक्ति की असाहता या दुविधा से ही आत्मप्रवंचना उपजती है। सार्त्र की चेतना का गमन (ecstacy) एक दिशा में ही नहीं, तीनों दिशाओं में है अर्थात् भविष्योन्मुख ही नहीं, वर्तमान और भूत की ओर भी यह गमन करती है और अस्थिर है। उसे स्थिर रूप देने की सम्भावना, उसे वर्तमान ही बनाने की इच्छा आत्म-प्रवंचना के मूल में है। स्पष्ट है कि यह अप्रमाणिक जीवन है।

●

वस्तु (being-in-itself) क्या है? सार्त्र 'Being and nothingness' ग्रन्थ की भूमिका में इसे तीन सूत्रों के द्वारा स्पष्ट करता है। (१) वस्तु है, (२) वस्तु आत्मस्थ है और (३) वस्तु वही है, जो वह है।° हम क्रमशः इनकी संक्षेप में व्याख्या करें।

(१) वस्तु 'है' अर्थात् वस्तु सर्जित (created) या सर्जक नहीं है। सार्त्र धार्मिक और भौतिक दोनों मतों का यहां विरोध करता है। वस्तु सर्जित तथा सर्जक नहीं है, केवल 'है'। इसका यह अर्थ होता है कि वह न तो सक्रिय (active) है और न निष्क्रिय (passive)। ये दोनों धारणायें मानवीय चेतना की हैं, इसलिए मानव-व्यवहार अथवा तत्सम्बद्ध वस्तुओं पर

---

* Consciousness is what it is not and is not what it is.

° (1) Being is, (2) Being is in-itself and (3) Being is what it is.

ही लागू होती है। वस्तु चेतनाहीन है, इसलिए यह न सक्रिय है और न निष्क्रिय। यह स्वाधिन और आत्म-सगन है, इसलिए केवल 'है'।

(२) वस्तु आत्मस्य है अर्थात् यह स्व से पूरित है। किसी अन्य की ओर इसकी गति नहीं है, फलतः यह अन्य पर आश्रित नहीं है। यह स्वय मे ही है, चेतना के समान अतिक्रमणशील नही है। यह अपार दर्शक (opaque) है। उसका बाहर-भीतर समान है। इसमें कुछ भी प्रच्छन्न नही है। यह ठोस (solid) है और प्रकट है।

(३) वस्तु वही है, जो वह है अर्थात् वह अवस्तु नही है, नकार, शून्य और अभाव से रहित है। यह पूर्ण है अर्थात् भाव है, इसलिए सम्बन्ध रहित है। अचेतन होने के कारण इसके लिए 'अन्य' है ही नही और न काल है। यह कालातीत है। इसका भूत, वर्तमान या भविष्य वास्तव मे 'इसका' नहीं होता, इससे बद्ध चेतना का ही होता है। इसमे न सभावना (Possibility) है और न आवश्यकता (necessity) है। इस प्रकार वस्तु असर्जित है, अकारण है, असम्बद्ध है और सदैव के लिए अत्यधिक (de trop) है। पूर्ण होने के कारण अपूर्ण चेतना के लिए अपनी पूर्णता के साथ अग्राह्य है। इसलिए सार्त्र इसे अतिक्रमण (transcendence) भी मानता है। पर यह अतिक्रमण इसकी क्रिया नहीं है, चेतना की असमर्थता से उद्भूत इसके अस्तित्व का एक गुण है, जो चेतना की दृष्टि से ही अर्थात् उसकी प्रतीति से ही इस पर आरोपित किया जाता है।

इस वस्तु और चेतना मे सम्बन्ध विधान कैसे होता है? दो परस्पर विरोध कैसे सम्पृक्त होते हैं? सार्त्र के अनुसार चेतना के 'ज्ञान' के द्वारा यह सम्बन्ध स्थापित होता है। ज्ञान इन दोनों मे सेतु का काम करता है। ज्ञान को सार्त्र सहजानुभूति (intuition) मानता है। तर्क और निगमन (deduction) के साधन भी सहजानुभूति पर आश्रित है। सहजानुभूति चेतना की वस्तु के प्रति उपस्थिति (presence) ही है। चेतना वस्तु की नकारात्मक चेतना है। वस्तु चेतना के समस्त नकार के माध्यम से प्रकट होती है। यह नकार चेतना से उत्पन्न होता है। 'मैं वस्तु नहीं हूं' का ज्ञान चेतना से ही पैदा होता है। इस प्रकार ज्ञान एक सामान्य सम्बन्ध, गुण या क्रिया नही है, बल्कि चेतना का सार ही है, जब तक कि चेतना किसी वस्तु के प्रति उपस्थित है। फलतः ज्ञान आतरिक नकार (internal negation) है।

चेतना अवस्तु है, इसलिए यह आत्मस्थ न होकर सदैव बहिर्मुख, वस्तु में या वस्तु के चारों ओर, रहती है। इसकी सीमाएं और मर्यादाएं वस्तु से प्राप्त की जाती हैं।

ज्ञान वास्तव में 'वस्तु है' की प्रतीति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस 'है' की अनेकविध व्याख्या दर्शन और विज्ञान, तर्क और निगमन पद्धति के द्वारा करते रहते हैं। ज्ञान से व्यक्ति अपनी चेतना की कठिनाई को जानता है और साथ ही साथ यह तत्सम्बद्ध योजना से भी परिचित होता है। ज्ञान कुछ निर्माण नहीं करता केवल 'अभिव्यक्त' करता है, विश्व को और संभावना को। फिर विशेष वस्तु का ज्ञान कैसे होता है? विशेष वस्तु के ज्ञान में विशेष का नकार—विश्व की धुंधली पृष्ठभूमि (Back ground) में—किया जाता है। इसी से 'यह' 'वह' का देशगत रूप प्रकट होता है। देश का सम्बन्ध भी चेतना के इसी ज्ञान से है, जो बाहरी नकार पर आधारित है। टेबल कुर्सी नहीं हैं। 'यह' 'वह' नहीं है। टेबल और कुर्सी में दैशिक भिन्नता है। पर यह भिन्नता की चेतना चेतना के लिए ही है, उसी से सर्जित होती है। दूसरे शब्दों में वस्तु का देश (space) भी चेतनात्मक है अर्थात् वस्तु में नहीं, चेतना में है।

वस्तु के विधान (structure) में सार्त्र तीन तत्त्वों पर विचार करता है, गुण (quality), संभाव्यता (potentiality) और साधनीयता (utensility)। गुण विशेष (यह) वस्तु की सत्ता है, जबकि इसे अन्य सब बाहरी विश्वगत सम्बन्धों से अलग करके देखा जाता है। अर्थात् यह विशेष का ज्ञान है। लाल रंग किसी विशेष वस्तु का ही होता है, सबका नहीं, इसलिए 'लाल' का गुण विशिष्ट वस्तुगत है। स्पष्ट है कि यह विषयीगत (subjective) नहीं है, वस्तुगत है, किन्तु इसका 'होना' चेतना के नकार पर टिका हुआ है। चेतना लाल 'नहीं' है, वस्तु लाल है। अतः वस्तु के गुण से चेतना 'जो वह नहीं है' उसे जानती है।

संभाव्यता भी वस्तु में चेतना के द्वारा ही 'प्रकट' होती है। चेतना भविष्योन्मुख है, इसलिए वस्तु—विशेष वस्तु—को भी वह भविष्य-स्थायी बनाती है। अधूरे चाद के पूरे होने की समावना चेतना का ही कार्य है। चेतना स्वयं संभावना रूप है। इसलिए वह अपनी समावनाओं का आरोप-प्रयोग भी वस्तु पर करती है। स्याही की दवात को मैं मेज पर रख सकता हूं और दीवाल से भिड़ाकर फोड़ भी सकता हूं। चेतना के माध्यम से ये विशेष गुण

वस्तु की समावना बन जाते हैं। इसी चेतन क्रिया से वस्तु का आदर्श (idealised) रूप निर्मित होता है।

साधनीयता में चेतना की प्रेरणा (drives) और कार्य (task) की सक्रियता होती है। प्रेरणाएं वस्तु मे अध्यारोप ही हैं। चेतना के आत्मअभाव की पूर्ति की इच्छा ही इन अध्यारोपों के लिए जिम्मेदार है। वस्तु का प्रेरणा से अध्यारोपित रूप कार्य (task) है और विशेष वस्तुएं जो उस कार्य की ओर अर्थात् कार्य की पूर्ति की ओर इंगित करती हैं, साधन (tool) हैं।

संक्षेप मे वस्तु के सब गुण, सब विभाग, अनेकविधता आदि की संज्ञाएं चेतना से उत्पन्न हुई हैं। वस्तु स्वयं निरपेक्ष, गुणातीत, अव्यवस्थित, कालातीत और सम्पूर्णतः अग्राह्य है। मानव चेतना ही इसे व्यवस्थित करती है, इसमें गुण देखती है, इसे काल बद्ध करती है और इसे सापेक्ष बनाकर अंशतः ग्रहण करती है और सम्पूर्णतः ग्रहण करने का असफल प्रयत्न करती रहती है। वस्तु कुछ करती नहीं, केवल होती है, चेतना कुछ है नही, केवल करती है। यह द्वैताश्रित द्वन्द्व सार्त्र के विभाजन के लिए आधारभूत है। यह वस्तु का 'होना' काल-निरपेक्ष भी है। चूंकि समय मे कोई क्रम नहीं है और भूत, भविष्यादि का क्रम केवल चेतना के गमन (ecstacy) से पैदा होता है, इसलिए अचेतन वस्तु का होना काल के इस क्रम से अतीत है। वस्तु का रूप-परिवर्तन भी कालगत नही है, केवल चेतना के लिए ही यह कालगत है। इसी कारण सार्त्र कारण (causality) को वस्तुजगत् मे अस्वीकार करता है। कारण भी चेतना का भ्रम है। वस्तु जगत मे भिन्न रूप केवल चेतना के समक्ष प्रकट होता है, पहला रूप इसका कारण नहीं है। इसलिए घटनाओं का क्रम प्रकट होता है, कारण नही। फिर भी इस वस्तु जगत् मे क्रिया (motion) है, जिसे चेतना इसकी संभावना समझ लेती है। वस्तु वैसे तो इन्द्रियविषय (phenomenon) है, किन्तु यह इन्द्रियों की सीमा मे अर्थात् चेतना की सीमा में पूरी तरह से पूर्णता (totality) के साथ समा नहीं सकती, गृहीत नहीं हो सकती, इसलिए इसे इन्द्रियपारगामी विषय (trans-phenomenon) भी कहा जाता है।

●

चेतना अवस्तु है, इसलिए यह आत्मस्थ न होकर सदैव बहिर्मुख, वस्तु में या वस्तु के चारों ओर, रहती है। इसकी सीमाएं और मर्यादाएं वस्तु से प्राप्त की जाती हैं।

ज्ञान वास्तव में 'वस्तु है' की प्रतीति के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। इस 'है' की अनेकविध व्याख्या दर्शन और विज्ञान, तर्क और निगमन पद्धति के द्वारा करते रहते हैं। ज्ञान से व्यक्ति अपनी चेतना की कठिनाई को जानता है और साथ ही साथ वह तत्सम्बद्ध योजना से भी परिचित होता है। ज्ञान कुछ निर्माण नहीं करता केवल 'अभिव्यक्त' करता है, विश्व को और संभावना को। फिर विशेष वस्तु का ज्ञान कैसे होता है ? विशेष वस्तु के ज्ञान में विशेष का नकार—विश्व की धुंधली पृष्ठभूमि (Back ground) में—किया जाता है। इसी से 'यह' 'वह' का देशगत रूप प्रकट होता है। देश का सम्बन्ध भी चेतना के इसी ज्ञान से है, जो बाहरी नकार पर आधारित है। टेबल कुर्सी नहीं हैं। 'यह' 'वह' नहीं है। टेबल और कुर्सी में दैशिक भिन्नता है। पर यह भिन्नता की चेतना चेतना के लिए ही है, उसी से सर्जित होती है। दूसरे शब्दों में वस्तु का देश (space) भी चेतनात्मक है अर्थात् वस्तु में नहीं, चेतना में है।

वस्तु के विधान (structure) में सार्त्र तीन तत्वों पर विचार करता है, गुण (quality), संभाव्यता (potentiality) और साधनीयता (utensility)। गुण विशेष (यह) वस्तु की सत्ता है, जबकि इसे अन्य सब बाहरी विश्वगत सम्बन्धों से अलग करके देखा जाता है। अर्थात् यह विशेष का ज्ञान है। लाल रंग किसी विशेष वस्तु का ही होता है, सबका नहीं, इसलिए 'लाल' का गुण विशिष्ट वस्तुगत है। स्पष्ट है कि यह विषयीगत (subjective) नहीं है, वस्तुगत है, किन्तु इसका 'होना' चेतना के नकार पर टिका हुआ है। चेतना लाल 'नहीं' है, वस्तु लाल है। अतः वस्तु के गुण से चेतना 'जो वह नहीं है' उसे जानती है।

संभाव्यता भी वस्तु में चेतना के द्वारा ही 'प्रकट' होती है। चेतना भविष्योन्मुख है, इसलिए वस्तु—विशेष वस्तु—को भी वह भविष्य-स्थायी बना देती है। अधूरे चांद के पूरे होने की संभावना चेतना का ही कार्य है। चेतना स्वयं संभावना रूप है। इसलिए वह अपनी संभावनाओं का आरोप-प्रयोग भी वस्तु पर करती है। स्याही की दवात को मैं मेज हूं दीवाल से भिड़ाकर फोड़ भी सकता हूं। चेतना के

वस्तु की सम्भावना बन जाते हैं। इसी चेतन क्रिया से वस्तु का आदर्श (idealised) रूप निर्मित होता है।

साधनीयता में चेतना की प्रेरणा (drives) और कार्य (task) की सक्रियता होती है। प्रेरणाएं वस्तु मे अध्यारोप ही हैं। चेतना के आत्मअभाव की पूर्ति की इच्छा ही इन अध्यारोपों के लिए जिम्मेदार है। वस्तु का प्रेरणा से अध्यारोपित रूप कार्य (task) है और विशेष वस्तुए जो उस कार्य की ओर अर्थात् कार्य की पूर्ति की ओर इंगित करती हैं, साधन (tool) हैं।

संक्षेप मे वस्तु के सब गुण, सब विभाग, अनेकविधता आदि की सज्ञाए चेतना से उत्पन्न हुई हैं। वस्तु स्वयं निरपेक्ष, गुणातीत, अव्यवस्थित, कालातीत और सम्पूर्णतः अग्राह्य है। मानव चेतना ही इसे व्यवस्थित करती है, इसमे गुण देखती है, इसे काल बद्ध करती है और इसे सापेक्ष बनाकर अशतः ग्रहण करती है और सम्पूर्णतः ग्रहण करने का असफल प्रयत्न करती रहती है। वस्तु कुछ करती नही, केवल होती है, चेतना कुछ है नही, केवल करती है। यह द्वैताश्रित द्वन्द्व सार्त्र के विभाजन के लिए आधारभूत है। यह वस्तु का 'होना' काल निरपेक्ष भी है। चूंकि समय मे कोई क्रम नहीं है और भूत, भविष्यादि का क्रम केवल चेतना के गमन (ecstacy) से पैदा होता है, इसलिए अचेतन वस्तु का होना काल के इस क्रम से अतीत है। वस्तु का रूप-परिवर्तन भी कालगत नही है, केवल चेतना के लिए ही यह कालगत है। इसी कारण सार्त्र कारण (causality) को वस्तुजगत् मे अस्वीकार करता है। कारण भी चेतना का भ्रम है। वस्तु जगत मे भिन्न रूप केवल चेतना के समक्ष प्रकट होता है, पहला रूप इसका कारण नहीं है। इसलिए घटनाओं का क्रम प्रकट होता है, कारण नही। फिर भी इस वस्तु जगत् मे क्रिया (motion) है, जिसे चेतना इसकी संभावना समझ लेती है। वस्तु वैसे तो इन्द्रियविषय (phenomenon) है, किन्तु यह इन्द्रियों की सीमा मे अर्थात् चेतना की सीमा मे पूरी तरह से पूर्णता (totality) के साथ समा नही सकती, गृहीत नही हो सकती, इसलिए इसे इन्द्रियपारगामी विषय (trans-phenomenon) भी कहा जाता है।

●

सार्त्र के दर्शन का समाजपरक पक्ष अन्य (other) की धारणा पर आधारित है। हीगल आदि के परम्परागत दर्शन में अन्य को बोध का एक विषय (object of perception) समझा जाता रहा है, विषय नहीं। सार्त्र इसे व्यक्तिगत संदर्भ में स्थित करता है और इसे विषयी (subject) भी मानता है। चेतनाओं की अनेकता सार्त्र-दर्शन में स्वीकृत हुई है। इसलिए अन्य-चेतना की सत्ता सृष्टिविद्यागत (ontological) है। अन्य व्यक्ति स्वयं एक अपने व्यक्तिगत और आंतरिक विश्व का निर्माण करता है, जिससे 'मेरे' विश्व का खण्डन होता है। वह 'मेरे' विश्व को चुरा लेता है, फिर भी 'मेरे' विश्व का विषय रहता है। सार्त्र इसे 'मेरे' विश्व में एक 'छेद' कहता है। अन्य 'मेरी' ओर देखता है। इसी देखने के द्वारा स्वयं को 'मेरे' विरुद्ध एक विषयी के रूप में निर्मित कर लेता है। तथा 'मुझे' वह विषय बना लेता है। फलतः लज्जा (shame) व्यक्ति में अन्य के द्वारा ही उत्पन्न होती है। वह अपनी दृष्टि (look) के माध्यम से 'मेरा' अतिक्रमण करता है अर्थात् उसकी सम्भावनाएं 'मेरी' संभावनाओं के पार जाती हैं। इस तरह सदैव अन्य के द्वारा मेरा अवरोध होता रहता है, मैं अपनी परिस्थिति का स्वामी नहीं रहता। अन्य की दृष्टि मुझे उसके संसार या देश (space) में व्यवस्थित करती है, स्थित करती है। इसके अतिरिक्त वह मुझे काल से भी बाधती है। मैं उसकी चेतना से बद्ध हो जाता हूँ। उस क्षण मैं उसका दास हूँ, जिसका परिणाम यह होता है कि लज्जा, घमण्ड, अलगाव आदि के मानसिक भावों के द्वारा मैं उसकी चेतना या दृष्टि के प्रति प्रतिक्रिया करता हूँ। इन भावों की व्यक्ति मे जागृति 'अन्य' की सत्ता को प्रमाणित करती है। 'अन्य' इतना विविधरूपी है कि उससे मेरे सम्बन्धों को निश्चित धारणाओं में नहीं बांधा जा सकता।

अन्य के भान से चेतना मे दो प्रकार के दृष्टिकोण पैदा होते हैं। या तो मैं जिस रूप मे, मैं स्वयं को जानता हूँ उसी प्रकृत रूप मे स्वयं को समझूं या जिस रूप मे मैं अन्य के द्वारा जाना जाता हूँ, उस परज्ञात रूप में स्वयं को मान लूं। पहले में विषयी और दूसरे मे मैं विषय बन जाता हूँ। इसका फल यह होता है कि मुझमें आंतरिक तनाव, खीझ और भय उत्पन्न होते हैं। यह अन्य अनचाहा अस्तित्व है। मेरे अस्तित्व के लिए यह आधारभूत नहीं है, पर यह है अवश्य। इसलिए अनिवार्य है कि मेरी चेतना का इससे 'मैं अन्य नहीं

का नकारात्मक सम्बन्ध स्थापित हो। यह नकारात्मक सम्बन्ध परस्पर होने के कारण विशिष्ट है। वस्तु और चेतना के नकार में परस्परता नहीं है, जबकि अन्य, चूंकि चेतन है, भी मेरा नकार करता है। मेरी चेतना में द्वैत उत्पन्न होता है, जो एक दूसरे का मुकाबला करते रहते हैं। अन्य मेरे चेतना-कार्य को इस ढंग से सीमित करता है। चेतना अन्य तक पूरी तरह से नहीं पहुंच सकती और न अन्य की चेतना मुझ तक पूर्णतः आपाती है। इस तरह अन्य का सद्भाव या सह-अस्तित्व का सम्बन्ध असम्भव हो जाता है। अन्य मेरी सम्भावनाओं के अतिक्रमण के द्वारा मेरी स्वतन्त्रता का हनन करता है। मैं अपनी अतिक्रमणता या स्वतन्त्रता को फिर से विजित करता हूं तो अन्य से द्वेष का सम्बन्ध स्थापित होता है। युद्ध क्षेत्र में सिपाही यही प्रयत्न करता है। अन्य का भय उसे पीड़ा देता है, वह उसकी संभावना अर्थात् इरादे को नहीं जानता। इसलिए अपनी सम्भावना की सबल स्थापना करता है। स्वयं विषयी बनने का प्रयत्न करता है।

वास्तव में अन्य 'मूर्त चेतना या विषयीत्व' (concrete subjectivity) है। यह इस रूप में 'अनुपस्थित–उपस्थित' है। मैं उसे विषय ही रखना चाहता हूँ अर्थात् उसकी चेतना को अनुपस्थित करता हूँ, जबकि वह चेतना युक्त है इसलिए उपस्थित है। इसके अतिरिक्त वह शारीरिक अनुपस्थिति के द्वारा भी उपस्थित है। उसकी उपस्थिति अपरिहार्य है। क्योंकि इसकी सत्ता चेतना में ही आन्तरिक नकार पर स्थित है। यह तर्कगम्य न होकर अनुभूति गम्य है।

•

अन्य की उपस्थिति अलगाव को और भी सघन और अनेक क्षेत्रीय बनाती है। अन्य मुझे शरीर के माध्यम से देखता है अर्थात् चेतना में मेरा शरीर दो रूपों में प्रकट होता है—(१) शरीर जो अन्य के द्वारा जाना जाता है—'परार्थ' है और (२) वह शरीर जो मेरे लिए है—'स्वार्थ' है। अब इन दोनों में असमानता पैदा होती है। इस प्रकार चेतना में विभाजन या खण्डन उत्पन्न होता है। शरीर से चेतना अलग होती ही है, चेतना में जो अलगाव उत्पन्न होता है, जबकि अन्य-रहित चेतना में चेतना और शरीर में अलगाव नहीं होता, एका-त्मिति रहती है। अन्य के हस्तक्षेप से इस शरीर-आबद्ध चेतना के तीन रूप बन जाते हैं, जो एक साथ उपस्थित रहते हैं, जिनमें कोई क्रम या व्यवस्था नहीं है।

पहले रूप मे शरीर 'स्वार्थ' है अर्थात् चेतना के लिए ही है। मार्त्र देकार्त के विरुद्ध शरीर और चेतना को संयुक्त मानता है। शरीर का पूर्णत. मानसिक (psychic) अस्तित्व है। चेतना का बाहरी संसार से सम्पर्क शरीर और इन्द्रियों के माध्यम से ही होता है। संसार का ज्ञान इन्द्रिय-बोध ही है। मेरा शरीर संसार की वस्तुओं तक विस्तृत है और साथ ही साथ मेरे अस्तित्व या चेतना मे सारभूत (condensed) रूप में स्थित है। शरीर की इन्द्रियों का बोध वस्तु के साथ ही रहता है, पहले-पीछे नहीं। इसलिए इन्द्रिय-बोध संसार मे मेरा होना ही है। यही बात शरीर पर लागू होती है। शरीर विश्वगत संदर्भों का केन्द्र है। वस्तु के उपकरण होने के कारण संसार शरीर के माध्यम से ही समझा जाता है। उपकरण शरीर-सापेक्ष होते हैं, इसलिए शरीर चेतना ही है। अपने अन्य रहित रूप मे दोनों मे अद्वैत है। यह अद्वैतता शरीराश्रित कार्य के द्वारा भी सिद्ध होती है। चेतना की नश्वर सत्ता शरीर है। शरीर का अतिक्रमण भी चेतना द्वारा किया जाता है, इसलिए शरीर एक बाधा के रूप में भी प्रकट होता है। यह सार्त्र का बहुचर्चित विरोधाभास (paradox) है।

दूसरे रूप में शरीर 'अन्यार्थ' होता है। अन्य मेरे सम्मुख शरीर के रूप में ही नही आता, एक स्वतन्त्र चेतना के रूप में उपस्थित होता है। अन्य अपने 'राज्य' मे इसकी व्यवस्था करता है, इसे स्थित करता है। वह इसे एक वस्तु के रूप में गृहीत करता है और इसके कार्य व्यापार के द्वारा 'मेरी' चेतना का अनुमान लगाता है। इधर मैं भी उसके शरीर के द्वारा यह अनुमान लगाता रहता हूँ। उसके हाव-भाव, क्रियाकलाप से एक विशेष निश्चित अर्थ प्राप्त करता हूँ। इस प्रकार शरीर इस रूप मे साधन है, अतिक्रमण का मार्ग है। वह विषय है, विषयी नहीं।

तीसरे रूप मे यह 'अन्यद्वारा ज्ञात होने वाला' शरीर है। मैं जब यह जानता हूँ या महसूस करता हूँ कि मैं अर्थात् मेरा शरीर अन्य द्वारा जाना जा रहा है, यह उसका विषय है, तब मेरी चेतना में अन्य-सम्पृक्त विषय रूप शरीर की उत्पत्ति होती है। मैं विषय रूप हो जाता हूं अर्थात् चेतना विषय रूप बन जाती है। अन्य की सर्वव्याप्ति मुझे नष्ट कर देती है। मेरा शरीर विच्छिन्न होकर केवल एक उपकरण (tool) मात्र रह जाता है। शरीर खिंच कर अन्य की ओर बढ़ने लगता है। शर्म या सकोच के आवेगों मे यह अनुभव किया जा सकता है। शर्म में दूसरे की महत्ता और स्व की हीनता के कारण ऐसा लगता है जैसे शरीर मुझ से भाग रहा हो। क्योंकि ऐसे क्षणों में शरीर केवल

अन्य का विषय है, ऐसी प्रतीति होती है। मैं अपने शरीर को अन्य की दृष्टि से देखने लगता हूँ। कोई कहे कि तुम्हारी आंखें कितनी खराब हैं, इसके प्रभाव से मैं अपनी आंखों को खराब समझूं और शर्म से नीचे देखने लगूं तो मैं दूसरे की दृष्टि से अपने शरीर को देख रहा हूँ। इसका अर्थ हुआ कि चेतना और शरीर का अलगाव होता है और शरीर मेरी चेतना का ठीक उसी रूप में विषय बन जाता है, जिस रूप में वह अन्य के लिए है।

स्पष्ट है कि सार्त्र के दर्शन में यह 'अन्य' बड़ा विघटनकारी अस्तित्व है। इसलिए इससे शान्तिपूर्ण सद्भावमय सम्बन्ध का निर्वाह कठिन है। सार्त्र धार्मिक भाषा का प्रयोग करते हुए कहता है कि अन्य मेरा मूल पाप है अर्थात् इसकी उपस्थिति सदैव पीड़ादायक अपराधजनक और वैमनस्याश्रित है, लेकिन इससे कोई बचाव भी नहीं है। अन्य के लिए मैं जैसा हूं, हूं। वह मुझे पूर्ण बनाता है अर्थात् मेरी संभावना को बद्ध कर मेरा अतिक्रमण करता है। मेरी 'स्वतंत्रता' भी उसके लिए वस्तु के समान 'प्रदत्त' है। वह सदैव मेरे मूल स्वरूप अर्थात् मेरी गतियुक्त चेतना को जड़ विषय में बदलता रहता है। इसलिए उसकी उपस्थिति मुझे में या तो प्रेम के द्वारा उसकी स्वतंत्रता जीतने का इरादा उत्पन्न करती है या कामेच्छा (desire) के द्वारा उसका शरीर विजित करने का जोश उपजाती है। इस कामेच्छा का प्रतिफलन घृणा (hate) में हो जाता है।

अन्य से प्रेम का सम्बन्ध असफल होता है। यह असफलता क्यों है, कैसे है? इसे समझने के लिए सार्त्र की प्रेम की धारणा का विवेचन आवश्यक है। प्रेम उन अनेक युक्तियों (projects) का समाहार है, जिसके द्वारा 'मैं' अन्य को चेतन विषय (conscious object) के असंभव रूप में विजित करना चाहता हूँ। प्रेम अन्य की चेतना या स्वतंत्रता को हस्तगत करना चाहता है, किन्तु वह यह नहीं चाहता कि अन्य एक भौतिक तथ्य या वस्तु के रूप में उसे प्राप्त हो। वह चेतनायुक्त अन्य को चेतनायुक्त वस्तु बनाना चाहता है और यह असंभव है। इसलिए प्रेम विरोधगर्भ है। प्रेमी और प्रेमिका परस्पर चेतन अन्य हैं। एकता स्थापित करने का प्रयत्न प्रेम है। यह प्रयत्न प्रायः दो रूप धारण करता है। प्रेमी प्रेमिका के लिए विषय है, इसलिए वह प्रेमिका की इच्छा के अनुरूप-अपनी चेतना की अवहेलना करते हुए--बनने की चेष्टा करता है। इस प्रकार अपनी स्वतंत्रता का हनन करता है और प्रेमिका की

दृष्टि से स्वयं को देखता हुआ विषय बनने का प्रयत्न करता है, जिसमें स्था-पित होकर प्रेमिका उससे 'एक' हो जाये। इसी प्रकार का वस्तु बनने का प्रयत्न प्रेमिका भी अपनी ओर से करती है। स्पष्ट है कि एकता स्थापित करने की यह क्रिया अर्थात् प्रेम असफल होगा। क्योंकि दोनों अपनी चेतनाओं को कभी भी नहीं हटा सकेंगे, यह असंभव है। इसके अतिरिक्त जब भी प्रेमिका को यह आभास हो जायेगा कि उसका प्रेमी एक जड़वस्तु मात्र है, उसका आकर्षण समाप्त हो जायेगा। फलतः प्रेम असफल होगा। इस असफलता से बचने का प्रयास स्वपीड़ा वृत्ति (masochism) है। प्रेमिका से एक होने की लालसा में प्रेमी अपनी स्वतन्त्रता, जो उसमें संघर्ष (conflict) का कारण हो सकती है, को तिलांजली देने का प्रयत्न करता है, जड़वस्तु बनना चाहता है। यह असम्भव है। इसलिए प्रेम असफल है, अन्य से सामञ्जस्य अशक्य है। फिर भी प्रेम एक प्रिय भ्रम होने के लिए मूल्य है। इसलिए मनुष्य जीवन-प्रारंभ से ही इसके वृत्त में घूमता रहा है।

परपीड़ा वृत्ति (sadism) के द्वारा अन्य को विजित करने का प्रयत्न प्रेम में अन्य की स्वतन्त्रता-विजय की असम्भावना के बोध से शुरू होता है। जब मैं अन्य की स्वतन्त्रता को प्रेम के द्वारा नहीं विजित कर सकता, तो मैं अपनी स्वतन्त्रता के सबल प्रयोग से उसे विजित करता हूँ। अर्थात् अन्य को 'अपनी दृष्टि' से केवल वस्तु में परिवर्तित कर देना चाहता हूँ। इस प्रकार उसके विषयीभाव (subjectivity) को नष्ट नष्ट कर अपने विषयीत्व की प्रतिष्ठा करता हूँ। पर यह अन्य पर विजय नहीं होती, उसके प्रति उदासीनता (Indifference) में परिणत हो जाती है। मेरा विषयीभाव या स्वतन्त्रता मेरे लिए दुख का कारण हो जाता है। चेतना का बोझ मुझे त्रस्त कर देता है। क्योंकि मुझ में इच्छा है। इच्छा अभाव से उपजती है और किसी स्वबाह्य विषय के लिए होती है। इसलिए अन्य की उपस्थिति मेरी 'पूर्ण कल्पना' के लिए अनि-वार्य है। यह दूसरी बात है कि सार्त्र के 'मैं' की यह कल्पना कभी पूर्ण नहीं होती। कामेच्छा (sexual desire) में अन्य से सुसम्बद्ध होने का प्रयत्न है [illegible], जो भी असफलता ही मिलेगी। पुरुष में नारी की इच्छा उसके शरीर के प्रति ही [illegible] नहीं रहती, उसके सम्पूर्ण अस्तित्व के प्रति जागती है। किन्तु कामेच्छा में चेतना को शरीर में सन्नद्ध करने की प्रवृत्ति होती है। [illegible] वस्तु मात्र हो जाता है, 'स्वतन्त्र चेतना' नहीं रहता। इसलिए

चेतना के अभाव में अन्य से 'सम्बन्ध' हो ही नहीं सकता।

कामेच्छा में भी अन्य उपस्थित है। कामेच्छा अन्य को केवल शरीर के रूप में जीवित रखने का प्रयत्न ही है। आलिंगन, लाड़-दुलार (caress) आदि अन्य को मात्र शरीर की सत्ता की अनुभूति कराने का प्रयास है। 'अन्य' इनके माध्यम से स्वयं के लिए और मेरे लिए भी शरीर (flesh) मात्र रहे। अन्य को स्व-शरीर का भान मेरे शरीर के द्वारा ही होता है। फलतः कामेच्छा में शरीरों का सम्बन्ध निर्मित होता है, चेतन और चेतन का नहीं। यह कामेच्छा का सम्बन्ध व्यक्ति का अन्य से आदिम सम्बन्ध है। मैं इससे अपनी स्वतन्त्रता का हनन करता हूँ और अपनी चेतना या सम्भावना को शरीर-रूप बना देता हूँ, इस आशा में कि 'अन्य' भी ऐसा ही करेगा। 'अन्य' ऐसा न करे तो यह प्रयत्न भी निष्फल होता है। पर यदि वह ऐसा कर ले, तो भी सम्बन्ध की असफलता से नहीं बचा जा सकता। क्योंकि संभोग में कामेच्छा की पूर्ण तृप्ति हो नहीं होती, उसकी चरमावस्था में 'अन्य' की विस्मृति भी उत्पन्न होती है। इसलिए 'सम्बन्ध' कैसा? इसके अतिरिक्त कामेच्छा के विकार (disturbance) के पलायन के पश्चात् 'अन्य' फिर या तो एक सामान्य विषय (ordinary object) बन जाता है, या मुझे विषय बनाकर विषयी (subject) हो जाता है।

कभी कभी व्यक्ति 'अन्य' के इस शरीर-पलायन को रोकने के लिए परपीड़ा (sadism) का आधार लेता है। परपीड़क व्यक्ति स्वयं विषय अर्थात् शरीर नहीं बन सकता, इसलिए वह 'अन्य' को – अपने शरीर को उपकरण (tool) बनाकर—शक्ति से स्वतन्त्रतारहित शरीर बनाना चाहता है। पीड़ा के द्वारा उसे शरीर की अनुभूति करवाता है और उसकी स्वतन्त्रता को विस्मृत करवाने का प्रयत्न करता है। स्पष्ट है कि यह रास्ता भी निरर्थक सिद्ध होगा। क्योंकि परपीड़ा के शिकार अन्य का समर्पण कभी स्थायी, सम्पूर्ण और स्पष्ट नहीं होता। कभी भी वह अपनी स्वतन्त्रता को छीन सकता है।

स्पष्ट है कि सार्त्र की दृष्टि में व्यक्तिगत सम्बन्ध असफल होने के लिए हैं। सामञ्जस्य या शांतिपूर्ण सद्भाव प्रायः असम्भव है। इसका मूल कारण यह प्रतीत होता है कि सार्त्र सदैव चेतना को अपनी मूल धारणा (जिसमें नकार और अतिक्रमण ही हैं, विधिपरक कुछ भी नहीं है) से प्रतिज्ञात होकर ही विवेचन करता है। 'अन्य' हमेशा उसके लिए चुनौती के रूप में ही आता है,

द्वन्द्व की मुद्रा में। अन्य चेतना है, विषयी है और मैं भी वैसा ही हूं। इसलिए मेरा या उसका प्रत्येक कार्य—चाहे वह लड़ना हो या उपहार देना—मेरे या उसके लिए दर्पदमन या दीनता (humiliation) ही साबित होता है। अन्य मेरी 'सीमा' है, मैं अन्य की 'सीमा' हूं। इसलिए कभी कभी इस 'सीमा' को नष्ट करने की प्रवृत्ति घृणा (hate) भी उत्पन्न करती है। घृणा अन्य की उपस्थिति से स्वयं को स्वतंत्र करने का प्रयास है, जिससे मेरा अलगाव संजित होता है। किन्तु यह घृणा फिर विशिष्ट 'अन्य' तक ही सीमित नहीं रहती, चेतना की सर्वतोमुखी स्वतंत्रता पर आश्रित होने के कारण सर्वघृणा में परिवर्तित हो जाती है। घृणा भी असफल होती है, क्योंकि 'अन्य' की सत्ता नष्ट नहीं हो जाती, ज्यों की त्यों रहती है।

इस प्रकार सार्त्र का मानवीय जगत् द्वन्द्व, अलगाव, अशांति, द्वेष, संघर्ष, हीनता, पीड़ा, निराशा, असफलता आदि के नकारों से भरा पड़ा है। अब प्रश्न उठता है कि इस एकान्त विच्छिन्न 'मैं' से समाज कैसे बनता है? या सामाजिक सम्बन्धों के सदर्भ मे इस 'मैं' की क्या स्थिति है? सार्त्र चेतनाओं की अनेकता को स्वीकार करता है।* अर्थात् 'मैं' अनेक हैं। क्या ये 'मैं' सब अलग-अलग असम्पृक्त अवस्था में हैं या रहते हैं? सार्त्र का उत्तर है कि ये किसी समूह-क्रिया (collective) द्वारा जुड़े हुए भी हैं। मतलब, इनका समूहगत अस्तित्व भी है। इस अस्तित्व को वह दो रूपों मे देखता है:-

(१) विषयरूप हम (Us object)—जब 'मैं' और 'अन्य' का सम्पर्क या संघर्ष होता रहता है, तब यदि कोई तीसरा व्यक्ति आकर हमें देखता है तो 'मैं' और अन्य दोनों इस तीसरे के विश्व मे विषय हो जाते हैं। इस तृतीय के द्वारा 'मेरी' और अन्य की संभावना को रोका, तोला, परखा और नकारा जाता है। इससे 'मैं' और तुम' (अर्थात् अन्य) एक हो जाते हैं, विषयपरक समानता पैदा होती है। इसे सार्त्र 'हम-विषय' की सामूहिकता कहता है, जो अपमानकारी पुरुषत्वहीनता की अनुभूति और विच्छेद-भाव को पैदा करती है। इस अनुभूति के लिए तीसरे की भौतिक उपस्थिति अनिवार्य नहीं है, उसका भान ही पर्याप्त है। इसीसे शोषित और शोषक का वर्ग-संघर्ष उपजता है। बुर्जुआ वर्ग यह तृतीय सत्ता है। शोषित का स्वातन्त्र्य 'हम-विषय' से 'हम-विषयी' हो जाना ही है। इसमे भी व्यक्तिगत सम्बन्धों में प्राप्त प्रेम घृणा, स्वपीड़ा आदि की भावनाएं क्रियाशील रहती हैं।

---

* इसका कोई बुद्धिगम्य कारण उसके दर्शन मे अप्राप्य है।

नेता भी यह तृतीय पुरुष है। ईश्वर सदैव तृतीय रहता है, अर्थात् विषयी ही रहता है।

(२) विषयीरूप हम (We-subject)—सार्त्र विषयीरूप-हम की केवल मनोवैज्ञानिक सत्ता मानता है, जो केवल अनुभव मात्र है। इसकी सृष्टिविज्ञानगत स्थिति नहीं है। उत्पादित वस्तुओं के समक्ष उनके उपभोक्ता होने के कारण हम विषयी हैं। इसी प्रकार कक्षा, वर्ग, जाति आदि 'विषयी हम' के उदाहरण हैं। 'ब्राह्मणों ने शूद्रों का शोषण किया' में ब्राह्मण 'विषयीहम' के प्रतिनिधि हैं।

संक्षेप में कहें तो सार्त्र व्यक्ति को व्यक्ति और समाज के संदर्भ में सह-जीवी न मानकर संघर्ष-जीवी मानता है। व्यक्ति और 'अन्य' के सम्पर्क का सामान्यीकरण ही सामाजिक सम्बन्ध में देखता है। यहां भी वह 'मैं' की सत्ता को भूलता नहीं। क्योंकि 'विषय-हम' की भावना क्षणिक है तथा तृतीय के भय पर आश्रित है। भय दूर होते ही फिर 'मैं' और 'तुम' का संघर्ष प्रारंभ हो जाता है। इसके अतिरिक्त 'विषय-हम' की एकता में वह पुरुषत्व-हीनता देखता है, जबकि मार्क्सवाद, जिससे वह प्रारंभ में सम्बद्ध रह चुका था, इसे अजेय शक्ति मानता है। सार्त्र का यह विचार पूर्णत: व्यक्तिगत परिस्थिति और अनुभव से उद्भूत हुआ है। जर्मन आक्रमण का प्रतिरोध करने वाले कुछ व्यक्ति और के साक्षात्कार के समय यदि शक्तिहीनता, या संघर्ष की बात करें, तो उसकी अनुभूतिगत प्रामाणिकता समझ में आती है। किन्तु दर्शन की वस्तुपरकता में उससे विकार पैदा होता है। अस्तित्ववाद इस रूप में केवल व्यक्तिगत दर्शन बन कर रह जाता है।

•

व्यक्तिगत परिस्थिति की प्रतिक्रिया का दूसरा परिणाम सार्त्र की चरम स्वतंत्रता की धारणा है, जो 'अर्ध-शिक्षित' व्यक्तियों—विशेषत: साहित्यकारों—में अत्यधिक लोकप्रिय एवं प्रचलित है और बहुत ही गलत समझी गयी है। इस चरम स्वतंत्रता के दार्शनिक रूप को सामान्यत: प्रचलित स्वतंत्रता से भिन्न समझना चाहिए। स्वतंत्रता की प्रचलित धारणा यह है कि व्यक्ति जो भी चाहे उसे प्राप्त करले अर्थात् उसे अपनी इच्छा पूर्ण करने का सुयोग मिले। कोई व्यक्ति एक लाख रुपये पाने की कामना करे और उसे उसी समय मिल जायें। इसे ही वह व्यक्ति चरम स्वतंत्रता मानता है। दार्शनिक चरम स्वतंत्रता

मे कामना पूर्ति नहीं होती 'स्वयं का निर्माण होता है' चुनाव या वरण होता है, जो काफी कठिन कार्य है। सार्त्र इस धारणा को कार्य (action) से संयुक्त करके देखता है। इसलिए स्वतंत्रता में पहले कार्य क्या है? इसे समझें। बिना आशय (intention) की क्रिया कार्य नहीं है। एक तम्बाकू पीनेवाला यदि गलती से किसी घर में आग लगा दे, तो उसे कार्य नहीं कहा जा सकता। अतः कार्य में आशय होना अनिवार्य है। आशय में अभाव की सहजानुभूति अंतर्गर्भित है, पूर्ण में आशय की स्थिति असंभव है। आशय में 'कोई वस्तु नहीं है' की अनुभूति और 'इसे होना चाहिए' की लालसा होती है। फलत: आशय मे चेतना की भूत से मुक्त होने, यथास्थिति से बिछुड़ने और संभाव्य की ओर गतिशील बनने की शाश्वत संभावना निहित है। चेतना की यह नकारी क्रिया और एक उद्देश्य या प्रयोजन की प्रतिस्थापना की संभावना ही स्वतंत्रता है। अर्थात् स्वतंत्रता चेतना की वह शक्ति है, जिसके द्वारा वह कार्य के आधार पर भूत और यथास्थिति से मुक्ति प्राप्त करता है और स्वतंत्र रूप से 'उद्देश्यों' और 'प्रयोजनों' का निर्माण करता है। लेकिन एक बात और विचारणीय है कि ये उद्देश्य और प्रयोजन अंतिम या स्थिर नहीं होते, सदैव नवनिर्मित होते रहते हैं। क्योंकि स्वतंत्रता अपनी निर्मिति से भी बद्ध नहीं होती, उसका भी वह नकार करती है। चूंकि चेतना सदैव निर्माणाधीन है, कभी भी निर्मित नहीं होती, फलत: स्वतंत्रता भी अनवरत गतिशील सर्जन-प्रक्रिया है।

सार्त्र इस स्वतंत्रता के लिए कोई सीमा, मर्यादा या बन्धन स्वीकार नहीं करता है। यह नकार पर आश्रित है, इसलिए पूर्ण स्वतंत्र है। बन्धन तो 'सकार' के कारण उत्पन्न होता है। 'हां' कहते ही अन्य से प्रतिबद्धता आ जाती है, जबकि 'ना' से अन्य से स्व का संकोच होता है, अन्य की अवहेलना होती है और स्व की स्वतंत्रता की उपलब्धि भी। इसी आधार पर सार्त्र नियतिवादी (deterministic) दर्शनों का विरोध करता है। नियति में 'उद्देश्य' जड़ीभूत या वस्तुभूत हो जाते हैं। व्यक्ति इन उद्देश्यों के दबाव और प्रभाव से यांत्रिक चिन्ता, स्वतंत्रता और मानवीय यथार्थ को भुला देता है। मानवीय यथार्थ चेतनात्मक होने के कारण स्वतंत्र होता है। फलत: नियतिवाद निरर्थक भ्रम है। स्वतंत्रता की मर्यादा तथा अवरोध अन्य स्वतंत्रता ही है, जिससे उसका संघर्ष या सम्बन्ध स्थापित होता है। सार्त्र इस स्वतंत्रता को

अन्तिम अवस्था तक ले जाता है और मानसिक मर्यादा को भी अस्वीकार करता है। उसके अनुसार मनोविकार (passions) भी इसे प्रभावित नहीं कर सकते । सम्पूर्ण मनोभाव वस्तुरूप (in-it-self) है, इसलिए चेतना इसका नकार कर सकती है । इसका यह अर्थ हुआ कि अस्तित्ववादी व्यक्ति अपने मनोविकारों के लिए भी उत्तरदायी है अर्थात् मनोविकारों की अभिव्यक्ति भी उसकी स्वतन्त्रता या चुनाव पर निर्भर करती है ।

इच्छा (will) में भी मूलभूत नकार का गुण और कुछ उद्देश्यों के प्रति चेतनात्मक निर्णय समाहित है । वास्तव में यह उद्देश्य के प्रति एक दृष्टिकोण है, जो विवेक पूर्व होता है । लड़ाई में मैं शत्रु का मुकाबला करता हूँ या डर के कारण भाग जाता हूँ । पहले कार्य में विवेकी चेतना का निश्चय है, जबकि दूसरा कार्य मनोविकार–भय–से उद्भूत है । लेकिन दोनों ही कार्य मूल चुनाव-प्रक्रिया की अभिव्यक्ति हैं । मैं लड़ने या भागने अर्थात् साहस या भय में से एक का चुनाव करता हूँ । इसलिए भयभीत होने में भी अपनी स्वतन्त्रता का प्रयोग कर रहा होता हूँ । अन्तर इतना ही है कि लड़ना विवेकी चेतना का चुनाव है, जबकि भागना विवेकपूर्व (pre-reflective) चेतना के चुनाव की अभिव्यक्ति । स्पष्ट है इस स्वतन्त्रता में किसी वस्तु, भाव या भूत की बद्धता के लिए बिलकुल भी गुंजाइश नहीं है । फलतः मनुष्य पूर्णतः भविष्योन्मुखी ही नहीं, भविष्य निर्माता भी है । हम में से प्रत्येक व्यक्ति को अपना भविष्य स्वयं निर्मित करना पड़ता है जो सदैव नवीन होता है । दूसरे शब्दों में, बाह्य वस्तु में तात्कालिक मूल्य और अर्थ उत्पन्न करना होता है । इसी से 'मनुष्य का भविष्य मनुष्य स्वयं है ।' इस बात को सार्त्र चालक (motive) और चलन (mobile) के अन्तर से भी स्पष्ट करता है । चालक बाह्य तथ्य होता है, जबकि चलन आन्तरिक तथ्य । अशोक के बौद्ध बनने में युद्ध की भयानकता चालक थी, जबकि आत्मशान्ति की आकांक्षा चलन । चालक के नकार में ही चालकों में मूल्य उत्पन्न होते हैं और चलन का कार्य शुरू होता है । यह कार्य और प्रेरणा दोनों साथ साथ उभरती है, इसलिए अविच्छिन्न सम्बद्ध हैं । फिर भी यदि ये स्थिर हो जाती हैं तो भूत बन जाती हैं परिणामतः स्वतन्त्रता इनका भी अतिक्रमण करती है । इस रूप में स्वतन्त्रता चेतना, अवस्तु, मानवीय यथार्थ, और स्वतन्त्र चुनाव की ही पर्यायवाची है ।

प्रत्येक कार्य स्वतन्त्र कार्य है । कार्य की वस्तुभूत शृंखला नहीं होती,

बहिः द्वारा तारतम्य चेतनात्मक है। मेरा प्रत्येक कार्य भावना की ओर चेतना-प्रवृत्ति का यत्न बहिस्थापन (projection) है। विश्व को प्रतीति और इस विश्व में 'मेरा' चुनाव ही मेरी स्वतंत्रता है। यह 'मेरा' चुनाव कार्य के द्वारा चेतना का बहिस्थापन करता है। यह चुनाव विवेकी हो या न हो, चेतनायुक्त अनिवार्यतः होता है। इसका यह अर्थ भी हुआ कि चेतना चुनाव-वृत्ति भी है, जो निरन्तर सक्रिय रहती है। क्योंकि हम सदैव किसी व्यक्त परिस्थिति के समाधान के रूप में अपना चुनाव अनवरत करते रहते हैं। इसका ज्ञान हमें हमारी पीड़ा, भय, चिन्ता और उत्तरदायित्व से होता है। पीड़ा, भय आदि कथित अनुभूतियां 'मैं' के कार्य से परिणत होती है। चूंकि कार्य चुनाव-आश्रित है, फलतः हमें हमारी स्वतंत्रता का भान होता है।

दैनिक जीवन की जड़ता में बद्ध व्यक्ति को इस स्वतंत्रता का झटका किसी विशेष 'क्षण' instant) के माध्यम से होता है। ध्यान रहे कि सार्त्र समय को 'क्षणों' का यथाक्रम नहीं मानता। इसलिए उसके 'क्षण' के विशेष अर्थ को हमें दृष्टिगत रखना चाहिए। इस 'क्षण' की मानसिक सत्ता है, जो बहुत महत्त्वपूर्ण है। किसी भी समय चेतना जड़ दैनिक जीवन चक्र को तोड़कर नवीन योजना का चुनाव कर सकती है और इस प्रकार अपने अस्तित्व में दरार उत्पन्न कर सकती है। ऐसी स्थिति ही 'क्षण' है, जो उस नवीन योजना के लिए अंतिम और प्रारंभिक दोनों सिद्ध होता है। इसके अतिरिक्त यह क्षण मेरी विचार पद्धति और जीवन-व्यवहार में अन्तराल पैदा करता है। इस क्षण के पूर्व पश्चात् कुछ नहीं होता। किसी क्षण मैं हिन्दू से मुसलमान बनूं तो वह क्षण मेरे हिन्दुत्व का अन्त है और इस्लाम का प्रारंभ। यह 'क्षण' भी सार्त्र के अनुसार मेरा चुनाव है।

●

जीवन की तथ्यता (facticity) क्या स्वतंत्रता को बाधित नहीं करती? सार्त्र वस्तु की तथ्यता का चेतना पर प्रभाव तो स्वीकार करता है, पर उसे ... का बाधक नहीं मानता। तथ्यता को उसने पांच भागों में विभाजित है:—(१) स्थान (२) भूतकाल (३) परिवेश (४) बन्धु और (५) ...। प्रत्येक स्थल पर मनुष्य की चेतना इन बाधाओं से सामना करती है, ...ु ये बाधा या सुविधा का रूप—उसकी स्वभावज स्वतंत्र चुनाव वृत्ति के

कारण ही-धारण करती है। व्यक्ति संसार में अतर्क्य और असमर्थनीय रूप में आता है। तथ्यता पूर्व-स्थित होती है। व्यक्ति की चेतना से ही उस तथ्यता के बाधक या साधक मूल्य उपजते हैं। अतः तथ्यता अन्तिम बाधा नहीं है। वह मेरे स्वतन्त्र निश्चयों के संदर्भ में बाधा का रूप धारण करती है अर्थात् मैं उसे बाधा समझता हूँ। बाधा का ज्ञान ही बंधनविहीन स्वतन्त्रता की गतिशीलता का द्योतक है।

(१) मेरा स्थान मेरे जन्म का स्थान देश (space) गत है। सार्त्र देश की उपस्थिति मानव-चेतना के माध्यम से ही स्वीकार करता है। चेतना विश्व की व्यवस्था करती है, उसी में यह 'मेरा स्थान' व्यवस्थित होता है। अर्थात् नकार के द्वारा ही मैं 'मेरे स्थान' की उद्भावना करता हूँ। इससे यह सिद्ध हुआ कि मेरे निश्चय के सदर्भ से ही यह बाधा का रूप धारण करेगा। इसी प्रकार (२) मेरा भूतकाल भी वस्तुरूप होने से मेरी चेतना को बद्ध नहीं कर सकेगा। मैं भूत को नया अर्थ दे सकता हूँ, तद्विषयक निर्णय लेता हूँ। (३) मेरा परिवेश, सार्त्र के अनुसार, स्थल या देशगत नहीं है, बल्कि उन उपकरणों (tool) का विश्व है, जिसे मैं व्यवस्थित करता हूँ। फलतः स्वतन्त्र हूँ। मैं पहाड़ पर एक क्षण में चढ़ना चाहूँ तो पहाड़ बाधा है और एक क्षण में देखना चाहूँ तो वह साधक या उपकरण मात्र है। (४) बन्धु-इसे हम 'अन्य' के अन्तर्गत विवेचित कर चुके हैं। वहाँ स्पष्ट है कि अन्य भी मेरे स्वतंत्र-कार्य से बाधा का अस्थिर रूप धारण करता है। अन्तिम तथ्य (५) मृत्यु है। इस शब्द का साहित्य-जगत् और किशोर-मानस व्यक्तियों की बात चीत में अत्यधिक प्रयोग होता है। इसलिए इस पर कुछ विस्तार से विचार करें।

मृत्यु पर कई दृष्टियों से विचार किया जा सकता है। ईसाई धर्म के अनुसार मृत्यु अमानवीय है अर्थात् अन्य प्रकार के शाश्वत जीवन का प्रारम्भ है। हिन्दू धर्म के अनुसार यह केवल जन्म के समान ही आत्म-जीवन का देहधर्मी बन्धन है अर्थात् पूर्णतः मानवीय है। आत्मा की स्वतन्त्रता का बाधक नहीं है और साधक भी नहीं है, पर मानव-प्रयत्न से साधक हो भी सकती है। जर्मन कवि रिल्के भी इसे पूर्णतः मानवीय मानता है। उसी से प्रेरित हो हेडेगर ने इसकी मानवीयता की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की है। हेडेगर का 'तत्पूर्' सम्भावनाओं का स्रोत है और उसकी एक सम्भावना मृत्यु है। अर्थात् मृत्यु जीवन की परिपूर्ति है, बाधा नहीं। यह अत्यधिक व्यक्तिगत और अपरिहार्य है। सार्त्र

के अनुसार मृत्यु का मूलभूत गुण उसकी निरर्थकता तथा असंगति (absurdity) है। सार्त्र हेडेगर आदि से सहमत नहीं है। यह असंगत इसलिए है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति इसके कब का अनुमान नहीं लगा सकता, केवल अमूर्त रूप से इसकी प्रतीक्षा कर सकता है। मैं इसकी योजना नहीं बनाता, उद्दिष्ट नहीं करता। अतः यह मेरी संभावना नहीं है, बल्कि मेरी सब संभावनाओं का अन्त है और इस रूप में मेरी संभावनाओं के बाहर है। मैं इसका चुनाव नहीं करता। यह अपने आप होती है, मेरे द्वारा निर्मित या सर्जित नहीं है। यह मेरे जीवन के लिए भी पूर्णतः निरर्थक है। इसलिए यह असंगत है।

चेतना सदैव इच्छा युक्त है, जबकि मृत्यु सब इच्छाओं का अन्त। चेतना भावी की आशाएं संजोती है जबकि मृत्यु उनका विनाश करती है। अर्थात् चेतना में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो मृत्युपरक या तत्सम हो। इसलिए यह मुझ से बाहर है। यह अन्त में है, जो मुझे प्रभावित करती है, नष्ट करती है मेरी संभावना के संसार को तहस-नहस कर डालती है। सार्त्र का यह तर्क कि मृत्यु चेतना से बाहर है, बहुत सूक्ष्म है। चेतना को सार्त्र परिमित (finite) मानता है, किन्तु मरणशील नहीं मानता। उसके अनुसार चेतना यदि अमर भी हो तो भी—चुनाव के अपने स्वभाव के कारण परिमित तो होगी पर मरणशीलता उसमें नहीं है, उससे बाहर है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवन—जो कि स्वतन्त्रता और चुनाव है—की बाह्य परिसीमा मृत्यु है। शायद यह शरीर-स्थित है चेतनागत नहीं। सार्त्र के दर्शन में शरीर और चेतना का भी एक स्तर पर अलगाव प्राप्त है। फलतः शरीर 'बाहर' है।

मृत्यु मेरे जीवन या स्वतन्त्रता की परिसीमा होते हुए भी मेरे लिए पूर्णतः असम्बद्ध रहेगा। मुझे नष्ट जरूर कर दे, पर 'मुझे' छू नहीं सकेगी अर्थात् बाधा नहीं डाल सकेगी। मृत्यु नहीं आती है तब तक मैं स्वतन्त्र हूँ, मृत्यु के आगमन के बाद मैं हूँ ही नहीं। इसलिए बाधा कैसी?

इसका तात्पर्य यह है कि मैं मरने के लिए स्वतन्त्र नहीं हूँ, केवल जीवन ही [illegible]। अन्ततः मृत्यु नहीं होती [illegible] जीवन (स्वतन्त्र) ही रहता है। इस दृष्टि से [illegible] की मृत्यु बारे सार्त्र के दर्शन की [illegible] असम्बद्ध है।

[illegible] स्वतन्त्र [illegible] का [illegible] पूर्ण [illegible] की [illegible]

ही नहीं, इसके लिए प्रतिज्ञान करती है। इस उत्तरदायित्व की सीमा स्व तक ही सीमित नहीं है, पूरे 'मेरे' विश्व को समाहित किये हुए है। अर्थात् मैं मुझसे सम्पृक्त प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति या घटना के लिए उत्तरदायी हूँ क्योंकि यह विश्व मेरा है 'मेरे द्वारा अर्थित है' मैंने इसका निर्माण किया है; इसलिये इसको ग्रहण करना अर्थात् तत्सम्बद्ध उत्तरदायित्व वहन करना मेरा कर्त्तव्य है और मेरी प्रामाणिकता है। जो व्यक्ति इस प्रामाणिकता से बचता है वह परम प्रवंचक है।

•

यह स्वतन्त्र चेतना, जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है, चेतनायुक्त वस्तु बनना चाहती है। चैतना वस्तु से नकार के द्वारा अलग होती है। किन्तु अभाव होने के कारण वह अलग ही नहीं रह सकती, फलतः वह वस्तु को गृहीत करना चाहती है, स्वयं अभावपूर्ति के प्रयत्न मे वस्तु बनना चाहती है। दूसरे शब्दों मे चेतना मे अपने गुणों के साथ ही वस्तु के गुणो को प्राप्त करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। यह विषय और विषयी दोनों के एकान्वय की असम्भव इच्छा है। यह एकान्वय केवल 'ईश्वर' मे प्राप्य है और मनुष्य का यह प्रयत्न 'ईश्वर' बनने का प्रयत्न साबित होता है। यह प्रयत्न कई रूप धारण करता है।

चेतना इच्छा रूप है इसलिये इच्छा पूर्ति के लिये यह क्रियाशील रहती है। इच्छा अभाव से उत्पन्न हुई है। अभाव की सम्पूर्ति के लिये चेष्टा पैदा होती है। इसे एक शब्द मे सार्त्र आत्मसात्करण (appropriation) कहता है। मनुष्य की प्रत्येक गति वस्तु या अन्य को आत्मसात्कृत करने के लिये उद्दिष्ट है। फलतः प्राप्ति या सम्पूर्ति की इच्छा वस्तुत. वस्तु होने की ही इच्छा है। वस्तु की सत्ता मे ही व्यक्ति निवास करता है, फिर भी यह वस्तु नहीं है और वस्तु को आत्मसात् करना चाहता है। यह क्रिया अनेकविध होती है, क्योंकि चेतना मे अनेकविध वस्तुओं अर्थात् अपूर्ण रूपों की ही स्थिति है। इसलिए व्यक्ति 'यह' या 'वह' वस्तु विशेष के चुनाव द्वारा अपने विश्व को अधिकृत करने का प्रयास करता है। स्पष्ट है कि इस कार्य मे वह पूर्णत. स्वतन्त्र है। फलतः व्यक्ति की सत्ता ठोस वस्तुओं के माध्यम से विश्व को आत्मसात् करने का स्वतन्त्र चुनाव कार्य ही है।

के अनुसार मृत्यु का मूलभूत गुण उसकी निरर्थकता तथा असंगति (absurdity) है। सार्त्र हेडेगर आदि से सहमत नहीं है। यह असंगत इसलिए है, क्योंकि कोई भी व्यक्ति इसके कब का अनुमान नहीं लगा सकता, केवल अस्पष्ट रूप से इसकी प्रतीक्षा कर सकता है। मैं इसकी योजना नहीं बनाता, उद्दिष्ट नहीं करता। अतः यह मेरी संभावना नहीं है, बल्कि मेरी सब संभावनाओं का अन्त है और इस रूप में मेरी संभावनाओं के बाहर है। मैं इसका चुनाव नहीं करता। यह अपने आप होती है, मेरे द्वारा निर्मित या सर्जित नहीं है। यह मेरे जीवन के लिए भी पूर्णतः निरर्थक है। इसलिए यह असंगत है।

चेतना सदैव इच्छा युक्त है, जबकि मृत्यु सब इच्छाओं का अन्त। चेतना भावी की आशाएं सजोती है जबकि मृत्यु उनका विनाश करती है। अर्थात् चेतना में ऐसा कुछ भी नहीं है, जो मृत्युपरक या तत्सम हो। इसलिए यह मुझसे बाहर है। यह अन्य में है, जो मुझे प्रभावित करती है, नष्ट करती है मेरे संभावना के संसार को तहस-नहस कर डालती है। सार्त्र का यह तर्क कि मृत्यु चेतना से बाहर है, कुछ सूक्ष्म है। चेतना को सार्त्र परिमित (finite) मानता है, किन्तु मरणशील नहीं मानता। उसके अनुसार चेतना यदि अमर भी हो तो भी—चुनाव के अपने स्वभाव के कारण परिमित तो होगी पर मरणशीलता उसमें नहीं है, उससे बाहर है। इससे यह सिद्ध हुआ कि जीवन—जो कि स्वतन्त्रता और चुनाव है—की बाह्य परिसीमा मृत्यु है। शायद वह शरीर-स्थित है चेतनागत नहीं। सार्त्र के दर्शन में शरीर और चेतना का भी एक स्तर पर द्वैतभाव प्राप्त है। फलतः शरीर 'बाहर' है।

मृत्यु मेरे जीवन या स्वतन्त्रता की परिसीमा होते हुए भी मेरे लिए पूर्णतः अप्रासंगिक रहता। मुझे नष्ट भले कर दे, पर 'मुझे' छू नहीं सकेगी अर्थात् बाधा नहीं बन सकती। मृत्यु नहीं आती है तब तक मैं स्वतन्त्र हूँ, मृत्यु के आगमन के बाद मैं हूँ ही नहीं। इसलिए बाधा कैसी ?

इसकी स्पष्टता यह है कि मैं मरने के लिए स्वतन्त्र नहीं हूँ, केवल जीवित हूँ। चेतना में मृत्यु नहीं होती जीवन (स्वतन्त्र) ही होता है। इस दृष्टि से [illegible] का मृत्यु बारे सार्त्र के दर्शन की कुछ विशेष [illegible]

[illegible]

ही नहीं, इसके लिए प्रतिज्ञान करती है। इस उत्तरदायित्व की सीमा स्व तक ही सीमित नहीं है, पूरे 'मेरे' विश्व को समाहित किये हुए है। अर्थात् मैं मुझसे सम्पृक्त प्रत्येक वस्तु, व्यक्ति या घटना के लिए उत्तरदायी हूँ क्योंकि यह विश्व मेरा है 'मेरे द्वारा अर्थित है' मैंने इसका निर्माण किया है; इसलिये इसको ग्रहण करना अर्थात् तत्सम्बद्ध उत्तरदायित्व वहन करना मेरा कर्तव्य है और मेरी प्रामाणिकता है । जो व्यक्ति इस प्रामाणिकता से बचता है वह परम प्रवंचक है ।

•

यह स्वतन्त्र चेतना, जैसा कि पहले उल्लेख हो चुका है, चेतनायुक्त वस्तु बनना चाहती है। चेतना वस्तु से नकार के द्वारा अलग होती है । किन्तु अभाव होने के कारण वह अलग ही नहीं रह सकती, फलतः वह वस्तु को गृहीत करना चाहती है, स्वयं अभावपूर्ति के प्रयत्न में वस्तु बनना चाहती है। दूसरे शब्दों में चेतना में अपने गुणों के साथ ही वस्तु के गुणों को प्राप्त करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है । यह विषय और विषयी दोनों के एकान्वय की असम्भव इच्छा है। यह एकान्वय केवल 'ईश्वर' में प्राप्य है और मनुष्य का यह प्रयत्न 'ईश्वर' बनने का प्रयत्न साबित होता है । यह प्रयत्न कई रूप धारण करता है ।

चेतना इच्छा रूप है इसलिये इच्छा पूर्ति के लिये यह क्रियाशील रहती है। इच्छा अभाव से उत्पन्न हुई है । अभाव की सम्पूर्ति के लिये चेष्टा पैदा होती है। इसे एक शब्द में सार्त्र आत्मसात्करण (appropriation) कहता है। मनुष्य की प्रत्येक गति वस्तु या अन्य को आत्मसात्कृत करने के लिये उद्दिष्ट है। फलतः प्राप्ति या सम्पूर्ति की इच्छा वस्तुतः वस्तु होने की ही इच्छा है। वस्तु की सत्ता में ही व्यक्ति निवास करता है, फिर भी वह वस्तु नहीं है और वस्तु को आत्मसात् करना चाहता है। यह क्रिया अनेकविध होती है, क्योंकि चेतना में अनेकविध वस्तुओं अर्थात् अपूर्ण रूपों की ही स्थिति है । इसलिए व्यक्ति 'यह' या 'वह' वस्तु विशेष के चुनाव द्वारा अपने विश्व को अधिकृत करने का प्रयास करता है। स्पष्ट है कि इस कार्य में वह पूर्णतः स्वतन्त्र है । फलतः व्यक्ति की सत्ता ठोस वस्तुओं के माध्यम से विश्व को आत्मसात् करने का स्वतन्त्र चुनाव कार्य ही है ।

विश्व को ग्रस्मसात् करने का सूक्ष्म अर्थ है वस्तु को चेतना पर आधृत करना, चेतना में वस्तु के गुणों को प्रकट होने देना और उन्हीं गुणों के आधार पर व्यक्ति के अस्तित्व की स्थापना करना। किन्तु यह कार्य असफल ही रहेगा क्योंकि चेतना द्वारा गृहीत (possessed) वस्तु पूर्ण और प्रकृत न होकर प्रतीकात्मक होती है। फलतः चेतना इनकी अस्थिरता के कारण प्रतीकों से अन्तर्गर्भ अभाव की सम्पूर्ति न होने के कारण इनका फिर अतिक्रमण करती रहती है। चेतनावस्तु होने का चेतना का जोश ईश्वर बनने जैसा ही है। इसलिये सार्त्र (Being and Nothingness) के अन्त मे 'व्यक्ति निरर्थक जोश मात्र है।' के निष्कर्ष पर पहुंचता है।

•

सार्त्र दार्शनिक दृष्टि से स्वयं को यथार्थवादी (realist) मानता है। वस्तु ही है, चेतना तो वस्तु में 'छेद' मात्र है, इसलिये 'नही' है, स्वतन्त्र है और गतिशील है। यह 'छेद' क्यों है, का उत्तर वह नही देता। शायद वह इस प्रश्न को अपनी सीमा के अतीत समझता है। किन्तु 'वस्तु ही है' की स्थापना वह करता है तो प्रकारान्तर से इस प्रश्न का 'अपना' उत्तर देता है। वह किसी न किसी रूप मे पूर्व-धारणा (presumption) को स्वीकार कर लेता है। ऐसा नही होता तो उसे देकार्त के द्वैत को सही मानना पड़ता। अब उसके दर्शन में यह द्वैत है, चेतना और वस्तु का द्वैत, 'छेद' और 'पूर्ण' के भिन्न रूपों को धारण किये हुए द्वैत। इस प्रकार सार्त्र ग्रीक परम्परा से विच्छिन्न नहीं है। अरस्तू के प्रत्ययों के वृत्त में ही घूम रहा है। अन्तर यह हुआ है कि वह सार्वभौम तत्व या ईश्वर, जिसके द्वारा उसके पूर्व के विचारक इस द्वैत के संघर्ष का समन्वय करते थे को हटा देता है। इसलिए उसमें ग्रीक परम्परा का संघर्ष, निराशा और असफलता ही प्रधान हो जाती हैं। तत्वों का पूर्ण विलोम स्थापित होता है। मार्क्सवादी यथार्थ भी उसे अस्वीकार्य है। क्योंकि मार्क्सवाद भी सार्वभौम कल्पना पर आश्रित है। उसमें भी एक प्रकार से द्वैत का समाहार है।

विद्वानों ने सार्त्र के इस एकान्त, असफलता की ओर उन्मुख, व्यक्ति- और परम स्वतन्त्रता समर्थक दर्शन का स्रोत विश्व-युद्धों की यातना है। योरों के सम्मुख व्यक्ति अकेला है, कुछ नही है, मृत्यु-चेता है

और 'हाँ' या 'ना' में चुनाव करने के लिये पूर्ण स्वतन्त्र है। क्योंकि उस समय उसके मन मे कोई धर्मदर्शनगत 'आदेश' नही होता। वह पूरे विश्व को इस 'अहं' पूर्व दृष्टि से देखता है अर्थात् ग्रहण करता है। कुछ लोग इस दर्शन की यह कह कर आलोचना करते हैं कि यह विशेष आत्यन्तिक परिस्थितियों की उपज होने से अपूर्ण और अंश-सत्य है। किन्तु यह तर्क सही नही है। विशेष परिस्थिति से उपजा ज्ञान विशेष ही हो यह अनिवार्य नही है। मौलिक-सापेक्षता ज्ञान को बद्ध नहीं करती, केवल उसके प्रस्फुटन का माध्यम बनती है। सार्त्र के दर्शन की मूल विसंगति उसके 'अवस्तु' के सिद्धान्त में है। सार्त्र चुनाव को स्वीकार करता है। यह चुनाव कार्य कैसे होता है ? 'नही' चुनाव नही कर सकता। चेतना में कुछ ऐसा सकारात्मक है, जो चुनाव करता है। क्योंकि चुनाव मे चुनने वाले और चुनी गई वस्तु मे उस विशेष समय मे सकारात्मक सम्बन्ध या तादात्म्य स्थापित होता है, जब कि नकार विच्छिन्न रूप होने के कारण चुनाव कर ही नहीं सकता। इससे यह भी सिद्ध होता है कि चुनी गई वस्तु विशेष में और चेतना में कुछ सामान्यता है, जिसके आधार पर यह चुनाव सम्पन्न होता है चाहे यह क्षणिक ही हो। इस प्रकार चेतना और वस्तु का आत्यन्तिक विरोध विसंगत प्रतीत होता है।

चेतना और अन्य के सम्बन्ध का विवेचन भी अस्पष्ट प्रतीत होता है। सार्त्र अनेक चेतनाओं में विश्वास करता है, जो समान धर्मा हैं। 'अहं' की उत्पत्ति से भेद-कार्य उभरता है। क्या व्यक्ति और अन्य में इस समानधर्मिता के आधार पर सामंजस्य नहीं स्थापित हो सकता। सार्त्र अन्य के शरीर को बाधा रूप मानता है अर्थात् इन्द्रिय विषय के द्वैत को प्रमुख मान रहा है, जबकि अन्य मे संघर्ष को वह 'अहं' रूप विचारक चेतना के स्तर पर स्थापित करता है। पर अन्य के शरीर और अहं के अतीत भी तो मूल चेतना है जो समान धर्मा है। क्या उन चेतनाओं में सामंजस्य स्थापित नहीं हो सकता ! 'प्रेम' को अहं-जनित ही क्यों माना जाये? यह चेतनाओं का संवाद भी तो हो सकता है। व्यक्तियों को 'विभिन्न' करने के स्थान पर सम-स्थित भी तो किया जा सकता है। सहयोग से स्वतंत्रता का हनन होगा, यह तथ्य तर्क सगत प्रतीत नहीं होता।

सार्त्र पूर्णतः मानवतावादी दार्शनिक है विज्ञान-प्रेरित व्यक्तिवादी मानवतावाद में विश्व का रोमेंटिक शुभ्र पक्ष परिकल्पित है, जबकि सार्त्र के मानवतावाद मे व्यक्ति तो केन्द्रस्थ है, किन्तु वह निराश दीन दुखी और

असमर्थ है, फिर भी स्वतन्त्र क्रियाशील और उत्तरदायित्व पूर्ण है। यह अधिकांशतः व्यक्ति की स्थिति का कृष्ण पक्ष है, व्यक्ति यहां भी कर्त्ताधर्त्ता है, पर असफल परिणाम उसका जन्मसिद्ध अधिकार है । स्पष्ट है कि यह भी अन्य प्रकार का रोमांसवाद ही है । यह अधूरे दर्शन, अभावात्मक दृष्टि और भावात्मक विद्रोह का आत्यन्तिक फल है ।

मार्टिन बूबर

(Martin Bubor)

अस्तित्ववादी दर्शन मे बूबर सार्त्र का प्रतिलोम है। सार्त्र के संसार मे 'अन्य' से 'मैं' का द्वेष या संघर्ष आवश्यभावी है। 'मैं' और 'तुम' में सहज सौमनस्य असमव है। दोनो के बीच सदैव एक शकाजन्य तनाव की स्थिति रहती है, जिसमे विषयी बने रहने की अभीप्सा और विषय हो जाने की या बना दिये जाने की पीड़ादायक आशका से व्यक्ति संत्रस्त रहता है। व्यक्ति दूसरे व्यक्ति से सतत मुकाबला करता रहता है, आंतरिक अलगाव के कारण असफलता और अकेलेपन मे घुटता रहता है और 'अन्य' अर्थात् 'तुम' से स्वाभाविक सयोजक स्नेह का संबध स्थापित नही कर पाता। 'अन्य' व्यक्ति के लिए नरक है।* क्योंकि वह 'अन्य' के मस्तिष्क अर्थात् उसकी विषयी-भावना को नही समझ सकता। इसलिये शका, संदेह और भय उत्पन्न होते हैं। फल यह होता है कि व्यक्ति अपने ही 'ससार' में सिकुड़ जाता है, अलग हो जाता है। इस पर भी उसे शान्ति नहीं है' क्योंकि 'अन्य' की उपस्थिति को वह हटा नहीं सकता। वह 'अन्य' उसके 'संसार' मे बलात् प्रवेश करता रहता है। फलतः सघर्ष अनिवार्य है, तज्जन्य अशान्ति का भोग उसकी नियति है और इस 'दुर्मंत्री' के साथ जीवन-यापन उसका शाप है। संसार में 'मैं' और 'तुम' में मित्रता नहीं निरन्तर शत्रुता ही गतिशील रहती है।

मार्टिन बूबर इस मलिन अधकारमय ससार मे आशा की किरणों का प्रकाश प्रवाहित करता है। 'तुम' अर्थात् 'अन्य' से 'मैं' का तादात्म्य-भावी

* 'The hell is other people'—No exit; a play by Sartre.

गुणपूर्ण हार्दिक संबंध स्थापित हो सकता है, बशर्ते कि हम 'तुम' को उसकी समग्रता और स्वाधीनता के साथ 'मैं' स्वीकार करें, उसे विषयी (subject) या विषय (object) में से किसी एक में सीमित कर समझ नहीं सकते, मैं 'तुम' से पृथक होकर स्व-केन्द्र की ओर न जाये, बल्कि रूप में 'तुम' की ओर स्वान्तर्गत रूप से प्रयाण करे। बूबर की मान्यता है कि यह सहभागितापूर्ण नाता सम्भव ही नहीं, सहज भी है। 'स्व-दृष्टि' के रूप से जब व्यक्ति 'अन्य' को देखता है तब ही विषमता उत्पन्न है मनुष्य पैदा होता है।

बूबर किन्हीं सार्वभौम और अमूर्त धारणाओं से विचार प्रारम्भ नहीं करता, बल्कि दैनिक जीवन में अनुभूयमान व्यक्तिगत संबंधों के विश्लेषण से ही अपने दर्शन की परिकल्पना करता है। अन्य अस्तित्ववादियों के समान उसका भी अध्येय विषय मानव-समुदाय में रहने वाला मूर्त मानव ही है। मानवों में रहते हुए मानव के लिए अनिवार्य है कि वह अन्यों से संबंध या सम्प्रेषण स्थापित करे। इसलिए बूबर इस 'सम्प्रेषण' की समस्या से ही विचार शुरू करता है। उसकी प्रसिद्ध पुस्तक 'मैं और तू' (I and Thou) में यही समस्या विवेचित हुई है। वहां वह व्यक्ति के दो आधारभूत संबंध-अन्य से अर्थात् वस्तु और जगत् से-स्वीकार करता है। पहला है 'मैं और वह' (I-It) का और दूसरा 'मैं और तू' (I-Thou) का। उसकी धारणा है कि जब भी व्यक्ति 'मैं' का उच्चारण करता है, वह स्वयं को अलग-थलग नहीं मान रहा होता है, बल्कि दूसरे से या बाह्य वस्तुगत (It) संबंध स्थापित कर रहा होता है या आंतरिक व्यक्तिगत (Thou) संबंध। 'वह' वस्तु का प्रतीक है, जो द्वैत ('मैं-वह') पर आधारित है। 'मैं' वस्तु से तादात्म्य स्थापित नहीं करता, केवल द्रष्टारूप से ज्ञान या बोध प्राप्त करता है। फलतः 'मैं' के व्यक्तित्व के बहुत से अंग यहां क्रियाशील नहीं रहते, उपेक्षित या बहिष्कृत हो जाते हैं। इस तरह 'मैं' की पूर्ण तल्लीनता के अभाव में यह संबंध वस्तुपरक, एकांगी और बहिर्निष्ठ ही रहता है। वैज्ञानिक का दृष्टिकोण इसी जाति का है।

'मैं-तू' के सम्बन्ध में 'मैं-वह' से भिन्न 'मैं' पूर्णतः तल्लीन और संलग्न होता है। 'मैं-तू' का उच्चारण व्यक्तित्व की सम्पूर्णता या समग्रता के माध्यम से ही हो सकता है। इस 'सम्बन्ध' में व्यक्ति का निष्काम और पूर्ण सहयोग अनिवार्य है। यहाँ व्यक्ति दूसरे (तू) से प्राप्त होने वाले प्रभाव का पूरी तरह प्रतिदान करता है। यह वास्तव में 'व्यक्तिगत सम्मिलन' (a personal meeting) है। यह

'सम्मिलन' पूर्णतः अनौपचारिक और सहज होता है और इसमें ऐसी आकांक्षा होती है कि मेरे दृष्टिबिन्दु या व्यक्तित्व का पूरा प्रतिदान (response) दूसरे से मिले। इसी 'प्रतिदान' में मुझे आत्मिक सन्तोष की अनुभूति होती है, जब कि उस प्रतिदान के अभाव में अतर्घात न नैतिक आघात का दर्द उपजता है। फिर भी व्यक्ति 'सम्मिलन' में डूब नहीं जाते, अपनी अस्मि-भावना या भुलाते नहीं, बल्कि इस अस्मि-भावना को धारण करते हुए वे प्रेम-भाव में सम्बद्ध होते हैं। 'तू' शब्द के उच्चारण के साथ ही उच्चारणकर्ता तू-सापेक्ष स्थिति में पहुंच जाता है अर्थात् 'तू' से घनिष्ठतः सम्बद्ध हो जाता है और अनुभव करता है कि वस्तुतः जीना मिलना ही है।* यह मिलन बहिर्निष्ठ वस्तु के धरातल पर नहीं घटित होता, आत्मनिष्ठ चेतना के रंगमंच पर होता है। 'मैं' जब 'तू' बोलता हूं तो एक सजीव और सक्रिय चेतना के वृत्त में व्यवहार करता हूं, 'तू' की चेतना के प्रभाव को ग्रहण करता हुआ उसकी सत्ता से अवगत होकर अपनी समग्रता का प्रयोग भी कर रहा होता हूं। मैं इस 'तू' की न तो उपेक्षा करता हूं और न इसे कुछ क्षण के लिये भी स्थगित ही कर सकता हूं। क्योंकि मैं स्वयं को इसे समझाना चाहता हूं और साथ ही साथ इसे भी समझना चाहता हूं। इसलिए आवश्यक है कि इसमें सहज निःसंकोच और पूर्वाग्रहरहित वार्तालाप हो। न तो मेरा उद्देश्य स्वयं को छिपाने का होना चाहिए और न 'तू' अर्थात् 'अन्य' के मत का येन केन प्रकारेण खण्डन हो। ऐसी परिस्थिति में ही यह व्यक्तिगत सम्मिलन होता है।

यह सम्मिलन व्यक्ति और व्यक्ति का होता है। इसलिए अस्तित्ववादी दर्शन के अनुकूल है, यद्यपि सार्त्र जैसे परम अस्तित्ववादियों के मत का विरोध इससे होता है। सार्त्र के दर्शन में मनुष्य का जीवन जन्मपूर्व और मृत्युपश्चात् के दो अभावों या अनस्तित्वों के मध्य झूलता रहता है। बूबर जीवन के इन दो छोरों को भी अभावपूर्ण या अनस्तित्व स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार सम्मिलन त्रिविध है या त्रिस्तरीय है। 'प्रकृति के साथ जीवन' इसका पहला स्तर है, जहां व्यक्ति प्रकृति से निर्जीव 'यह' का वस्तुगत संबंध स्थापित नहीं करता बल्कि 'तू' का व्यक्तित्व मिश्रित नाता जोड़ता है। प्रकृति की अनुभूति उसे होती है, उससे वह शिक्षा प्राप्त करता है और अपने हृदय में प्रकृति के द्वारा भावानुभूति की

---

* 'All real living is meeting'—I and Thou.

उत्तेजना वह अनुभव करता है। यह संबंध एकान्त और इकतरफा (चूंकि प्रकृति निरपेक्ष रहती है) होने के कारण अनुभवयुक्त तो होता है, पर अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। स्पष्ट है कि बूबर सार्त्र के विरुद्ध प्रकृति से भी 'मैं' का सामंजस्य स्थापित करता है। इस सम्मिलन का दूसरा स्तर 'मनुष्य के साथ मनुष्य' में दिखाई देता है। इस स्तर पर मनुष्य दूसरे मनुष्य से अपनी बात भाषा के द्वारा प्रकट कर सकता है और उसमें उपयुक्त प्रतिक्रिया उपजा सकता है। यह संबंध दुतरफा होता है। 'अध्यात्म के साथ जीवन' में तीसरा संबंध कल्पित किया गया है। यहां भी व्यक्ति 'अध्यात्म' की अनुभूति करता है, जिससे सहजानुभूति और प्रेरणा जाग्रत होती है। यह संबंध इकतरफा तो नहीं होता, किन्तु यहां दूसरा (अध्यात्म-तत्त्व) इतना अधिक महान् होता है कि वह व्यक्ति की सामर्थ्य को पार करता रहता है, उसकी वाणी की पकड़ में नहीं आता। फलतः उस संवाद की झांकी ही अभिव्यक्त की जा सकती है।

बूबर 'व्यक्तिगत सम्बन्धों' पर अधिक बल देता है, उन्हीं के अध्ययन से अन्य स्तरों की व्याख्या करता है, इसलिये इन्हें समझना अत्यन्त आवश्यक है। इन 'सम्बन्धों' का आधार उसके 'तू' की धारणा है। 'तू' और 'यह' का व्याकरणिक आधार है। 'यह' (It) जड़ वस्तुओं या मनुष्येतर प्राणियों के लिये प्रयुक्त होता है, जबकि 'तू' मनुष्य के लिए ही सुरक्षित है और अनौपचारिक व्यक्तिगत सम्बन्ध की घनिष्ठता का द्योतक है। किसी को 'तू' कहते ही व्यक्ति (तू) अपने सहज, प्रिय और महत्व (पद, मान, मर्यादा से विमुक्त) रूप में उपस्थित होता है। प्रकृति भी यदि 'तू' के रूप में अनुभूत होगी, तो एक अनिर्वचनीय सजीव व्यक्तित्व लिए हुए अर्थात् मानवीकृत रूप में प्रस्तुत होगी। दूसरी ध्यान देने बात यह है कि 'तू' के सम्बन्ध में व्यक्ति अपनी समग्रता के साथ प्रकट होता है। उसके भावात्मक और बुद्धिपरक दोनों रूप उसमें समन्वित रहते हैं। बूबर 'राग' के उदाहरण से इसे स्पष्ट करता है। जब हम 'राग' का रसबोध करते हैं, तो राग के विधान, स्वरों, शब्द, आलाप आदि का वास्तविक विश्लेषण नहीं करते, बल्कि राग की समग्रता की ही अनुभूति करते हैं और उसमें से रसास्वाद ग्रहण करते हैं। उसी प्रकार अन्य व्यक्ति 'तू' से सम्बोधित होते ही अपने समग्र रूप में प्रस्तुत हो जाता है। स्पष्ट है कि परस्पर 'तू' के सम्बोधन से ही बन सकता है। यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहनी चाहिये, क्योंकि 'तू' का कोई निश्चित रूप नहीं होता और न 'मेरा' ही कोई स्थिर निश्चित

रूप है। इस प्रकार अन्य को 'तू' के रूप मे अनुभव करने का अर्थ है अन्य मनुष्य को सपूर्णतः जानना ।

अन्य से यह 'तू' का सम्बन्ध स्थापित कैसे हो ? बूबर यहा ईसाई धर्म के शब्द अनुकम्पा (grace) का आधार लेता है । यह 'तू' भावी मिलन अनुकम्पा से होता है। उसके अनुसार अनुकम्पा सामान्य दैनिक जीवन मे ही क्रियाशील देखी जा सकती है। हम कविता पढते हैं, बुद्धि से कितनी ही चेष्टा करें इसे ग्रहण नही कर सकते । किन्तु वही कविता आज या कल कभी स्वयमेव अन्त.स्फुटित हो जाती है। इसी प्रकार नैतिक नियमो का हम सायास पालन करना चाहते हैं, पर उन्हें अनुभव नही करते । गाँधी की अहिंसा का अनुसरण करना चाहते हैं, पर मन से नहीं कर पाते । पर अचानक किसी मित्र के अद्भुत व्यवहार से हम अहिंसक हो जाते हैं। भगवान बुद्ध की आत्म-जागृति से भी यही बात समर्थित होती है कि 'अनुकम्पा' से ही अनेक बार कार्य सम्पादित होता है । यह संयोगजन्य होता है । जिसे हम सामान्य जीवन में 'संयोग' कहते हैं, उसे शायद बूबर अनुकम्पा मानता है । इस संयोग में यह आवश्यक है कि हम इसके प्रभाव, फल या प्रेरणा को प्राप्त करने के लिये इच्छुक हों, इसकी क्रिया मे भागीदार बनें । इसके अतिरिक्त इस अनुकम्पा को प्राप्त करने के लिए हम प्रयत्न भी करें, सफलता मिले इसकी निश्चिन्तता पर ध्यान न देकर। तभी अनुकम्पा प्राप्त हो सकेगी । इस तरह व्यक्तिगत 'सम्मिलन' अनुकम्पा के द्वारा ही लभ्य है। इस 'तू' का अवतार भी अनुकम्पा-जन्य है, सहज है और अनायास है। 'तू' मुझ से मिलता है और मैं भी उससे सीधा सम्बद्ध होता हूं। फलतः इस सम्बन्ध में मैं चुनता भी हूँ और चुना भी जाता हूँ। बूबर अन्य को प्रकृत रूप मे ग्रहण करने और 'मैं' को भी प्रकृत रूप मे गृहीत होने की क्रिया को 'मैं-तू' की संज्ञा देता है।

बूबर की यह 'अनुकम्पा' कार्य-कारण (मूलतः उद्देश्य और फल) की परम्परा से बद्ध नहीं है, क्योकि इस मिलन में इनका द्वैत नहीं रहता, अद्वैत या सहजीवन होता है । यह एक अन्वित सम्बन्ध है, जो भूत और भविष्य न होकर वर्तमान है, जहाँ कारण और कार्य के लिये अनिवार्य कालगति की स्थिति नही है दूसरे शब्दों में यह जड़ का संयोग नहीं, चेतनों का सामंजस्य है । इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म में स्वीकृत 'अनुकम्पा' की निश्चेष्टा (passivity) भी इसमें अप्राप्य है। भगवान की अनुकम्पा पर आश्रित होने

व्यक्ति में निष्क्रियता और निश्चेष्टा उपज सकती है, किन्तु बूबर—चूंकि इसे व्यक्ति क्षेत्र में स्थापित करता है— इसलिये इस निश्चेष्टा से 'अनुकम्पा' को बचा लेता है। अन्य से 'मेरा' मिलन मेरी क्रिया (action) और ग्रहणशीलता (reception) पर स्थित है, फलतः यह वेदना और कार्यशीलता से पूरित रहता है। वेदना की उत्पत्ति इसलिये होती है, क्योंकि मैं अपने अनेक विशेष कार्यों को छोड़कर सप्रयत्नः इस 'मिलन' कार्य में संलग्न हो जाता हूं। इसका परिणाम यह होता है कि उन विशेष कार्यों से सम्बद्ध संवेगों की अतृप्ति वेदना जैसी अनुभूति प्रेरित करती है। कार्यशीलता, जैसा कि पहले स्पष्ट हो चुका है, दूसरे को प्रतिक्षण 'तू' बनाये रखने के लिए आधारभूत है। बूबर के इस 'मैं'-'तू' सम्बन्ध में क्रियता और निष्क्रियता का परम्परागत भेद नहीं प्राप्त होता। यह कीर्केगार्द की 'अज्ञात में छलांग' से मिलता जुलता है, जहां निश्चेष्ट स्वीकार भी है और सक्रियता भी है।

'मैं-तू' का सम्बन्ध अथवा मिलन सदैव 'है' की सीमा में—वर्तमान में घटित होता है। व्यावहारिक जीवन में व्यस्त व्यक्ति का जीवन भूत, वर्तमान और भविष्य के खण्डों में विभक्त है। कल से लिखना शुरू किया, आज भी लिख रहा हूं और कल तक पूरा लिख लूंगा। यह कालक्रम व्यवहार सिद्ध है। 'मैं—तू' के मिलन में 'तू' सदैव वर्तमान ही रहता है। दो व्यक्तियों के संवाद में दोनों 'कलों' की प्रतीति नहीं होती, हमेशा तत्क्षण की चेतना रहती है, उसकी अनुभूति होती है। इसे खण्डों में विभक्त नहीं किया जा सकता। सच्चा वर्तमान इस मिलन के समय ही उपस्थित रहता है। अतः 'मेरा' वर्तमान 'तू' ही है। 'तू' के जाते ही मैं कल, आज, कल में बट जाता हूँ। अर्थात् मेरा अस्तित्व वस्तुपरक या भौतिक वृत्त में घूमने लगता है। मनुष्य के परोक्ष आविष्कारों में केवल कला ही ऐसी वस्तु है, जो इस अनुकम्पामय मिलन को समाहित किये हुए है और पाठक में इसे उत्प्रेरित भी करती है। कला में कलाकार और कला-विषय (art-object) में 'तू' का सजीव सम्बन्ध स्थापित होता ही है। इसलिए कला के आस्वाद कर्त्ता सहृदय में भी कला-विषय 'तू' के रूप में प्रस्फुटित होता है। पर यह संबंध क्षणस्थायी होता है। 'तू' की अनुभूति स्थिर नहीं रहती, 'यह' बन जाती है अर्थात् वस्तु हो जाती है। इसलिए सदैव प्रयत्न के द्वारा इसे नवीन बनाया जाता है। यह एक प्रवाह है, ठोस रूप धारण कर लेता है, इसे पुनः विगलित किया जाना आवश्यक है।

तो क्या व्यक्ति सदैव इस 'तू' भावी आत्मनिष्ठता मे रहे ? क्या यह उसके लिये संभव है ? बूबर यथार्थ से आंख नहीं मूंदता। वह मानता है कि न तो यह समव ही है और न उसे ऐसा करना ही चाहिए। मनुष्य वस्तु-जगत मे रहता है। फलत. वस्तु-सम्बद्ध होना अथवा वस्तुभावी होना उसके स्वभाव में ही है। वह वस्तुनिष्ठता (objectivity) से बच नहीं सकता, जैसे रहस्यवादी बचता है। बूबर के अनुसार यह हमारी नियति है कि हम निरन्तर 'मैं-तू' के सम्बन्ध मे रह ही नहीं सकते और उसी प्रकार न हमेशा वर्तमान में ही स्थित हो सकते हैं। प्रत्येक 'तू' हमारे विश्व में 'यह' मे परिवर्तित हो जाता है अर्थात् वस्तु बन जाता है। 'तू' से वर्तमान में ज्योंही सम्बन्ध सम्पादित हो जाता है, त्यों ही वह 'तू' 'यह' अर्थात् अनेक वस्तुओं मे से एक वस्तु बन जाता है। 'प्रेम' सदैव समान नहीं रहता। वह यथार्थ और संभावना के पलडो में झूलता रहता है। इसी प्रकार वर्तमान में सदैव रहना भी असंभव है। इसलिए वर्तमान साध्य नहीं है, 'मिलन के' विधान (Structure) का एक अंग है। तो क्या आत्मनिष्ठता निरर्थक है ? वस्तुनिष्ठता की अनिवार्यता और आवश्यकता क्या 'व्यक्ति को वस्तुनिष्ठ होना चाहिए' का बोध नहीं करवाती ? बूबर का उत्तर 'ना' में है। उसके अनुसार वस्तुनिष्ठता की अनिवार्यता है, फिर भी यह पूर्ण नहीं है, इसकी कुछ मर्यादायें हैं। अतः उसकी पूर्ति के लिये आत्मनिष्ठता की माग सदैव रहेगी। मनुष्य 'यह' के बिना अर्थात् वस्तुमय संसार के बिना जीवित नहीं रह सकता, फिर भी वस्तुमयता मे रहने वाला ही मनुष्य नहीं है। वह वस्तु को अन्तर्भूत 'तू-मात्री' बनाता है, उसे सम्पूर्णतः जानता है, सामंजस्य स्थापित करता है। फिर उसे 'वस्तु' बना देता है। इस प्रकार संघर्ष नहीं सहयोग का सम्बन्ध स्थापित करता है।

यह 'मैं-तू' का मिलन 'मेरे' लिये अत्यन्त उपादेय है। इससे 'मैं' खुलता हूं और स्वयं को जानता हूं। जैसे मैं दूसरे के व्यक्तित्व का सहज्ञानुभूति जन्य ज्ञान प्राप्त करता हूं, उसी प्रकार मैं इस मिलन मे 'अपना' ज्ञान भी पाता हू। मैं साधारण आत्मस्थ इकाई की सीमा को छोड़कर अपने उस अस्तित्व से परिचित होता हूं, जो सब मे वैसा ही है अर्थात् समान (common) है। इसे बूबर दो धारणाओं के द्वारा समझाता है। मनुष्य में प्रत्येकता (Individuality) और व्यक्तिता (Personality) दोनों हैं। प्रत्येकता उसे दूसरों से अलग करती है, जबकि व्यक्तिता उसे उनसे जोड़ती है। वह समान भूमिका है, जहां

'मैं-तू' का मिलन होता है। बूबर प्रत्येकता को आत्मा की स्वाभाविक निवृत्ति और व्यक्तिता को आत्मा का स्वाभाविक सम्बन्ध (प्रवृत्ति) मानता है। समाज-सापेक्ष प्रत्येकता में चरित्र, जाति, व्यवसाय, बुद्धिमता आदि के गुण समाविष्ट हैं, जबकि व्यक्तिता में 'मैं-हूँ' का भाव ही होता है, 'मैं ऐसा हूँ' प्रत्येकता है और 'मैं हूं' व्यक्तिता। स्पष्ट है कि व्यक्तिता में मनुष्य सामान्य मानव रहता है, इसलिये अन्य से सहज सुहृद्भावी सम्बन्ध निर्मित कर सकता है। 'मैं तू' का मिलन व्यक्तित्व के इसी स्तर पर घटित होता है। यहां प्रत्येकता नष्ट नहीं हो जाती, उसका भी भान रहता है, पर यह मिलन में बाधक नहीं साधक सिद्ध होती है।

•

बूबर 'मैं' और 'तू' अर्थात् व्यक्ति और अन्य में संघर्ष नहीं मानता। वे एक दूसरे के पूरक हैं, अन्योन्याश्रित हैं। 'तू' के माध्यम से ही मनुष्य 'मैं' बनता है। दूसरे मस्तिष्कों से सम्पर्क से ही हमारे मस्तिष्कों का विकास होता है। दूसरे की उपस्थिति की अपरिहार्यता सार्त्र भी स्वीकार करता है, पर वह दूसरे से संघर्ष ही पाता है। बूबर 'प्रेम' से इन्हें बांधता है, सार्त्र के समान तोड़ता नहीं। बूबर की प्रेम की परिभाषा ईसाई धर्म-सम्मत है। 'मेरा' तू के प्रति उत्तरदायित्व ही प्रेम है। अर्थात् दूसरे के सुख-दुख का भागी मैं हूं। यह 'पड़ोसी से प्रेम करो' जैसी सहयोग भावना पर आधृत है। यह प्रेम इकतरफा नहीं दुतरफा होना चाहिए। तभी यह समाज और राजनीति के क्षेत्रों में सहायक हो सकता है। आजकी राजनीति प्रत्येकता अथवा समूह के चक्र में फंसी हुई है। इसमें व्यक्तिता को उपेक्षित किया जा रहा है। यदि व्यक्तिता पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाय, तो बहुत सा वैमनस्य दूर हो जायेगा। व्यक्ति'-समुदाय पैदा होगा, जिसमें 'हम' (we) की भावना स्फुरित होगी। एक अन्य पुस्तक में बूबर प्रत्येकता (individuality) और समूहवाद (collectivism) में बंटे आज के समाज की आलोचना करता है कि दोनों दृष्टिकोण (प्रत्येकता और समूहवाद)—चाहे कारणतः और प्रकट रूप में कितने ही भिन्न हों—वस्तुतः एक ही परिस्थिति की उपज हैं। उनमें केवल विकास की भिन्न अवस्थाओं का ही अन्तर है। यह परिस्थिति ब्रह्माण्डगत और समाजगत गृहविहीनता, विश्व और जीवन से भय और सम्पूर्ण अकेलेपन की

अनुभूति से संयुक्त है। आज प्रत्येक मनुष्य 'मनुष्य' के रूप में प्रकृति से कटा हुआ और व्यक्ति के रूप में समूह की भीड़ में अलग हुआ सा महसूस करता है। इस परिस्थिति में उसकी पहली प्रतिक्रिया प्रत्येक्तावादी होती है और दूसरी समूहवादी। प्रत्येक्तावाद व्यक्ति के अंग को ही ग्रहण कर पाता है जबकि समूहवाद व्यक्ति को ही एक अंग बना लेता है। इस तरह दोनों समग्र और सम्पूर्ण (whole) मनुष्य की अवहेलना करते हैं। ऐसी परिस्थिति में मनुष्य की समस्या का उत्तर है 'हम' की भावना का विकास। 'हम' उस समुदाय की अभिव्यक्ति है, जहां व्यक्ति अपने स्वत्व (Selfhood) और उत्तरदायित्व को जानते हैं और 'मैं-तू' के संबंध में समय समय पर जीवित रहते हैं। सच्चा समुदाय इसी आधार पर निर्मित किया जा सकता है। निष्कर्षतः 'हम' 'मैं-तू' संबंध सिद्ध व्यक्तियों का समूह है, जहां व्यक्तित्व की समान भूमिका के कारण 'मैं' की पृथकता के साथ-साथ अन्य या समूह से एकान्विति स्थापित की जा सकती है और इस प्रकार एक (व्यक्ति) और अनेक (समाज) के विरोध का समाहार किया जा सकता है।

प्रेम आध्यात्मिक यथार्थ की अनुभूति भी करवाता है। 'मैं-तू' के मिलन में 'तू' मुझे सबोधित करता है, तो वह 'मैं' अपनी समान भूमिका में ही परिसीमित नहीं होता, बल्कि 'तू' में स्थित परम तू' से भी सम्बद्ध होता है। जिस समय अन्य 'तू' के रूप में प्रकट होता है तो हम यह भूल जाते हैं कि इस 'तू' की नश्वर देशकालगत स्थिति है। चूंकि यह वर्तमान होता है, इसलिए इसके माध्यम से 'मैं' परम 'तू' अर्थात् आध्यात्मिक परम सत्य की अनुभूति प्राप्त करता हूँ। जैसे भगवान ही मुझे सबोधित कर रहे हैं और उसे मैं 'पकड़ नहीं' पा रहा हूँ, क्योंकि वह 'तू' का सम्बोधन मुझसे उभर कर मेरी सत्ता के पार जा रहा होता है। यह परम 'तू' ही संसार-बद्ध 'तू' का आधार है। इसीसे 'मैं-तू' का सम्बन्ध सामंजस्य पूर्ण और समन्वयकारी बना हुआ है। इसलिए भगवान अर्थात् परम 'तू' 'मैं' के सम्बन्ध या प्रेम का आश्रय है।

इससे बूबर यह निष्कर्ष भी निकालता है कि ईश्वर को अनुभूत किया जा सकता है, भाषा के द्वारा अभिव्यक्त नहीं किया जा सकता। अर्थात् ईश्वर को बुद्धिगम्य बनाकर परिमापित नहीं किया जा सकता। वह व्यक्तिगत अनुभव की सगुण धारणा है। इसलिए बूबर उन दर्शनों की खबर लेता है, जो ईश्वर को अन्य अनेक दार्शनिक विषयों में से एक विषय मात्र बना देते हैं। दार्शनिक केवल ईश्वर

'मैं-तू' का मिलन होता है। बूबर प्रत्येकता को आत्मा की स्वाभाविक निवृत्ति और व्यक्तिता को आत्मा का स्वाभाविक सम्बन्ध (प्रवृत्ति) मानता है। समाज-सापेक्ष प्रत्येकता मे चरित्र, जाति, व्यवसाय, बुद्धिमता आदि के गुण समाविष्ट हैं, जबकि व्यक्तिता में 'मैं हूं' का भाव ही होता है, 'मैं ऐसा हूँ' प्रत्येकता है और 'मैं हूं' व्यक्तिता। स्पष्ट है कि व्यक्तिता में मनुष्य सामान्य मानव रहता है, इसलिये अन्य से सहज सुहृद्भावी सम्बन्ध निर्मित कर सकता है। 'मैं तू' का मिलन व्यक्तित्व के इसी स्तर पर घटित होता है। यहां प्रत्येकता नष्ट नही हो जाती, उसका भी मान रहता है, पर यह मिलन में बाधक नहीं साधक सिद्ध होती है।

•

बूबर 'मैं' और 'तू' अर्थात् व्यक्ति और अन्य में संघर्ष नहीं मानता। वे एक दूसरे के पूरक हैं, अन्योन्याश्रित है। 'तू' के माध्यम से ही मनुष्य 'मैं' बनता है। दूसरे मस्तिष्कों से सम्पर्क मे ही हमारे मस्तिष्कों का विकास होता है। दूसरे की उपस्थिति की अपरिहार्यता सार्त्र भी स्वीकार कर... ..., पर वह दूसरे से संघर्ष ही पाता है। बूबर 'प्रेम' से इन्हें बांधता है ... के समान तोड़ता नही। बूबर की प्रेम की परिभाषा ईसाई ... तू के प्रति उत्तरदायित्व ही प्रेम है। अर्थात् दूसरे के सुख-दुख ... है। यह 'पड़ोसी से प्रेम करो' जैसी सहयोग भावना पर ... यह प्रेम इकतरफा नहीं दुतरफा होना चाहिए। तभी यह ... नीति के क्षेत्रों में सहायक हो सकता है। आजकी राजनीति ... समूह के चक्र में फंसी हुई है। इसमें व्यक्तिता को ... व्यक्तिता पर ही ध्यान केन्द्रित किया जाए, ... जायेगा। व्यक्ति' -समुदाय पैदा होगा, ... प्रस्फुटित होगी। एक अन्य पुस्तक में ... और समूहवाद (collectivism) में ... कि दोनों दृष्टिकोण (प्रत्येकता और ... से कितने ही भिन्न हों — मानव: एक विकास की भिन्न अवस्थाओं का ... समाधान दुर्दैनता ...

'मैं-तू' का संबंध स्थापित करने का सतत प्रयत्न किया जाये, जिससे मनुष्यता की स्थापना हो और परिव्याप्त अशान्ति, दुर्भाव, पीड़ा, सन्त्रास आदि के नकार दूर हो जायें।

वस्तुतः बूबर का दर्शन अस्तित्ववादी होते हुए भी सार्त्र जैसे बौद्धिक निरीश्वर अस्तित्ववादियों के विरुद्ध पड़ता है। सम्प्रेषण (Communication) की समस्या का बड़ा सटीक समाधान बूबर में प्राप्त होता है। यूरोप का मस्तिष्क ग्रीक परम्परा की उपज होने के कारण बौद्धिकता की भाषा से ही प्रभावित होता है। इसके अतिरिक्त महायुद्धों के विनाश ने उसे इतना हिला दिया है कि वह पूर्णतः सन्देहवादी बन गया है। प्रेम, स्नेह आदि सर्जक भावों की स्थिति के प्रति वह पूर्वग्रह युक्त शंकापूर्ण दृष्टि रखता है, ईश्वर में विश्वास की तो बात ही उसे क्षुब्ध कर देती है। इस सन्देह और अभाव से ग्रस्त मानव समुदाय के लिए बूबर का सगुण भक्ति जैसा यह दर्शन सान्त्वना, आशा और उत्साह पैदा कर सकता है। पर यूरोप अभी बूबर की बात सुनने की मुद्रा में है नहीं, अभी तो वह नकार की पराकाष्ठा पर पहुँचना चाहता है।

८

अंततः

मानव और मानवेतर के द्वैत की समस्या मनुष्य की चेतना को आदिकाल से ही ग्रस्त किये है। जन्म के साथ ही मनुष्य का इतर से मुकाबला होता है।* इतर ऐसा है, जो वह नहीं है अर्थात् उससे इतर है, दूसरा है। इतर चाहे प्रकृति के रूप में प्रकट हो अथवा सजीव व्यक्ति के रूप में, एक दरार 'मैं' और 'इतर' के बीच उभर आती है। व्यक्ति देखता है कि वह इतर से अलग है, विजातीय है अथवा असमान है। फिर भी वह विधानतः इसमें, इससे और इसके साथ रहता है। फलतः वह इसे जानना और समझना चाहता है। क्योंकि इससे सम्बद्ध अथवा समन्वित होने की मूल एषणा उसकी चेतना का स्वधर्म है। वस्तुतः वह भिन्न है, इसलिए सम्बन्ध के द्वारा अभिन्न होना चाहता है, अनेक में 'एक' होने के लिए सक्रिय रहता है। यह एक प्रकार के सामंजस्य की एषणा है, जो कमोबेश हर व्यक्ति के अन्तर में स्फुट या अस्फुट रूप में हमेशा रहती है।

इतर अनेक रूप है। जड़ प्रकृति की विविधता, सजीव प्राणी समूह, पशु-पक्षी, मानव आदि के अनेक विभाग इतर में हैं। व्यक्ति को इतर की पहली प्रतीति इन्द्रियज होती है अर्थात् स्थूल होती है। इतर अपने भौतिक वैविध्य के साथ उसकी चेतना में प्रकट होता है। यह वैविध्य उसमें बाहरी होने की चेतना उत्पन्न करता है, उसे ग्रस्त कर देता है। इसलिए व्यक्ति इस बाहरीपन,

* फ्रायड, एरिक फ्रॉम आदि मनोवैज्ञानिक मनुष्य के जन्म को उसकी प्रकृति विच्छिन्न अवस्था मानते हैं, जिससे जन्मतः ही वह अलगाव और रिक्तता से पीड़ित रहता है। दुर्भाग्य विश्व में वह विदेशी के समान है।

अनगार. रिक्तता, स्व और इतर के बीच सूनी खाई को पूरने का अपनी स्वभावज शक्तियों के प्रयोग द्वारा भरसक प्रयत्न करता है। इसी प्रयत्न का परिणाम है उसके धर्म, दर्शन, नीति आदि का उद्भव।

इतर को जब वह भावात्मक दृष्टि से देखता है तो इतर का भावात्मक रूप निर्मित होता है। इतर का अंतर्भाव होता है अर्थात् अनुभूतिमय रूप। वैदिक काल के ऋषियों ने इसी दृष्टि से इतर को हृदयंगम किया था और उसके अन्तर्भाव की सर्जना की थी। उषा के सौन्दर्य, गुणदायित्व और प्रकाश की अनुभूति से उषा की भावसृष्टि हुई है, जो भावधर्म का सम्बल लेकर देवी बन गई है। अतएव, इतर (प्रकृति या पुरुष) की अनेकता का सामान्य भावपरक आधार कल्पित कर लिया गया है। इसमें बुद्धि की काट-छांट (विश्लेषण) का अवकाश ही नहीं है। वस्तु के भाव-चेतन-प्रभाव (अनुभूति) के फलस्वरूप ही इतर और अहम् की एकता-व्यापक सत्ता का प्राकट्य मनुष्य की चेतना में स्वयमेव हो जाता है। इस निर्मिति की प्रक्रिया में वस्तु का प्रभाव, उसके प्रति जिज्ञासा, या प्रश्न और उसका समाधान – ये तीनों भावगत प्रतिक्रिया होते हैं। अतः इस प्रक्रिया में क्रम अत्यन्त क्षीण होता है, प्रायशः सह-प्राकट्य की स्थिति रहती है। दूसरी बात यह भी लक्ष्य है कि इसमें बहिर्वस्तु अर्थात् इतर का अन्तर्भाव होने से इतर की अनेकविधता अथवा प्रकृति की अवहेलना की जाती है। उषा पूर्वी क्षितिज में घटित होने वाली भौतिक कृति न होकर अंतर में प्रादुर्भूत देवी बन जाती है। फलतः व्यक्ति-मन-सापेक्ष इकाई के रूप में सर्जित होती है। मनुष्य की इसी प्रवृत्ति से धर्म और रहस्यवाद की उत्पत्ति हुई है। धर्म और रहस्यवाद में बाहर का नकार होता ही है, व्यक्ति का भी नकार होता है। यहाँ दोनों के ऊपर किसी अन्य सत्ता को कल्पित कर लिया जाता है और यह सत्ता व्यक्ति तथा इतर दोनों को नगण्य करती हुई ब्रह्माण्डगत कार्य-व्यापार के लिए उत्तरदायी समझी जाती है। अतिमानसिक ईश्वर (तृतीय) पर आश्रित एकता व्यक्ति को नगण्य बना देती है, जबकि रहस्यवाद का अद्वैत पूर्णतः आत्मस्थ होने से इतर की अवहेलना ही नहीं करता, सजीव व्यक्ति को भी नकारता है। फलतः यह सम्बन्ध-चेष्टा 'सम्बन्ध' को ही नष्ट कर देती है। व्यक्ति के नगण्य होते ही उसका 'सम्बन्ध' नहीं होता, उसकी आदिष्ट व्यवस्था होती है। क्योंकि 'सम्बन्ध' गण्य का ही होता है।

मनुष्य एक दूसरी प्रकार से भी सम्बद्ध होने का प्रयत्न करता है। इतर

को वह निरपेक्ष भाव से अपनी चेतना में प्रतिष्ठित करता है और अचानक सहाजानुभूति या सूझ के द्वारा उसे इतर के एक सूक्ष्म रूप की प्राप्ति हो जाती है। तत्पश्चात् वह उस रूप का बौद्धिक निगमन (deduction) कर लेता है। इस प्रकार इतर के सूक्ष्म और सामान्य रूप की वह स्थापना कर सकता है। इससे इतर का प्रत्यय उत्पन्न होता है। यह प्रत्यय, चूंकि सूक्ष्म होता है इसलिए अनेक रूपों को एक में समाहित कर सकता है। अनेकरूपता भौतिक अथवा इन्द्रियाश्रित होती है, प्रत्यय बनते ही इस भौतिकता और इन्द्रियाश्रय से वस्तु मुक्त हो जाती है। प्रत्ययवादी दर्शन इसलिए वैचारिक अधिक है—प्लैटो से लेकर हीगल तक की परम्परा इसे प्रमाणित करती है। यहाँ भी इतर और व्यक्ति दोनों की उपेक्षा-अवहेलना होती है। यहां इतर का अतर्भाव (प्रत्यय) बौद्धिक रीति से होता है। इसलिए दोनों का सहज और प्रकृत रूप नहीं रहता। व्यक्ति की सजीवता, वर्तमानता, सम्पूर्णता, स्थूलता नष्ट हो जाती है तथा दूसरी ओर इतर इसी प्रकार परिवर्तित सूक्ष्म रूप में गृहीत होता है। एक स्थिर-शाश्वत वैचारिक सार-सत्ता विकसित होती है, चाहे वह प्लेटो का शिव (The Good) हो या हीगल का विश्वात्मा (The world-Mind); जिसमें व्यक्ति और इतर की प्रत्ययगत एकता निहित रहती है।

प्रत्ययवादी दर्शन की रीति से बहि: का अंतर्भाव होता है अर्थात् अंत: के दृष्टि-केन्द्र से बहि: का रूप निर्धारित किया जाता है, उसका सार निकाला जाता है। स्पष्ट है कि यहां अतः अर्थात् व्यक्ति का सहजानुभूति पर आश्रित बौद्धिक क्रिया से संयुक्त मानस प्रमुख है। दूसरे शब्दों में प्रत्यय की एकता अन्तर्निष्ठ एकता ही है, बहिर्निष्ठ नहीं। इसी बौद्धिकता से उत्पन्न वैज्ञानिक दृष्टि में बहिर्व्याप्त इतर, प्रमुख हो जाता है। फलतः व्यक्ति और इतर को इतर (बहि:) के दृष्टि-केन्द्र से समझा जाता है। वैज्ञानिक का उद्देश्य इसलिए किसी एकता की स्थापना करना नहीं है, बल्कि इतर और अहम् के शुद्ध बुद्धिनिष्ठ रूप की खोज करना है। यहां सामंजस्य की चेष्टा के स्थान पर वस्तु का 'ज्ञान' प्रधान है। पर यह ज्ञान व्यक्ति-निरपेक्ष होता है तथा भौतिक इन्द्रियावलम्बित अनेकता की 'मूल एकता' की उपलब्धि तक पहुंचना है। यहां भी सामान्यीकरण और सूक्ष्म-विधान उतना ही महत्त्वपूर्ण है, जितना प्रत्ययवादी दर्शन में-वैज्ञानिक ज्ञान भेद को अणुतक ले जाता है, जिससे भेद भेद ना रहता, बल्कि जीवन-निरपेक्ष तत्त्व बन कर नीरूप और निर्विशेष हो जाता है। फलतः विज्ञान में भी सहज प्रकट इतर का विरूपीकरण होता है

अर्थात् व्यक्ति और वस्तु दोनों को सूक्ष्मीकृत कर उनकी 'सम्पूर्णता' को नष्ट कर दिया जाता है। दूसरी बात, अन्तः को बहिः के संदर्भ में या बहिर्दृष्टिकेन्द्र से समझने की चेष्टा की जाती है, जिसका परिणाम यह होता है कि प्रत्ययवादी दर्शन के समान यहां भी सजीव व्यक्ति तिरस्कृत ही रहता है तथा किसी प्रत्ययबद्ध या नियमबद्ध प्रकृति (Law governed Nature) के सामान्य (Generality में वह अपनी विशिष्टता व अद्वितीयता (Uuiqueness) को खो देता है। बाहर के संदर्भ से भीतर को जानने या उसके रूप को निर्धारित करने का वैज्ञानिक प्रयत्न भी 'सम्बन्ध' की सजीवता और सम्पूर्णता में बाधा पहुंचाता है, क्योंकि इससे भी व्यक्ति नगण्य बनता है और व्यक्ति का सारभूत विचार गण्य। इसके अतिरिक्त आधुनिक विज्ञान ने विज्ञान के मूलाधार बुद्धि (Rationality) के सम्मुख भी प्रश्नचिह्न लगा दिये हैं।

इस प्रकार धर्म की भावुकता, रहस्य की अन्तर्निष्ठता, प्रत्ययवाद की नीतिगत व्यवस्था और विज्ञान की बहिर्मुख सामान्यता–सब में सजीव व्यक्ति और तत्सम्बद्ध इतर के एकांगी, निश्चित, निर्जीव और परोक्ष रूप स्थिर होते हैं। इतरसहित व्यक्ति इतना 'पूर्ण' है कि इन एक पक्षी (फलतः अपूर्ण) दृष्टिकोणों की पकड़ में नहीं आता, इनकी लक्ष्मणरेखाओं से बाहर उफनता रहता है। उसकी अपनी विधानगत अस्पष्टता, अनिश्चितता और बहुरूपिता के कारण वह इन दृष्टिकोणों के परिवृत्त में बद्ध नहीं होता। क्योंकि ये सब दृष्टिकोण उसके व्यक्तित्व के किसी एक अंग (भाव, बुद्धि या सहजानुभूति) से उसका एकांगी प्रत्ययगत रूप स्थापित करते रहे हैं। प्रत्ययवादी दर्शन उसके 'सम्पूर्ण' की भ्रामक कल्पना करता है तो विज्ञान उस कल्पना को स्वक्षेत्र से अलग समझते हुए भी उस दिशा में प्रयत्नशील दिखाई देता है। सामाजिक विज्ञानों के आधार पर इस तथ्य को आसानी से समझा जा सकता है। संक्षेप में ये सब दृष्टिकोण व्यक्ति और इतर को उभय-निरपेक्ष वैचारिक धारणा में परिवर्तित करते रहे हैं। फलतः व्यक्ति–जीवन और धारणा में संघर्ष सदैव होता रहा है।

•

अस्तित्ववाद की उत्पत्ति के मूल में यही सम्बन्ध-विधान का स्वाभाविक व्यक्ति प्रयत्न और प्राप्त दृष्टिकोणों (धर्म, दर्शन, विज्ञानादि) की निरर्थकता

का बोध रहा है। अस्तित्ववाद मूलतः ही यह स्वीकार करके चलता है कि व्यक्ति की समुचित परिभाषा नहीं दी जा सकती, क्योंकि वह अस्पष्ट ही नहीं, स्वतन्त्र और सक्रिय भी है। वह सजीव अनेककोणी अस्तित्व है, फलतः निश्चित, स्थिर और सुग्राह्य नहीं है। इसलिये उसके इतर-सापेक्ष 'सत्यत्व' का भी कोई निश्चित, स्थिर और ग्राह्य रूप नहीं प्राप्त किया जा सकता। पूर्वोक्त दृष्टिकोणों की असफलता और निरर्थकता इसे स्पष्टतः प्रमाणित करती है। इसलिये आवश्यक है कि व्यक्ति के किसी अन्तिम स्थिर प्रत्ययात्मक रूप की [illegible] में बाँधा जाये, उसे उसके अद्भुत, स्वाभाविक और सहज स्पष्ट क्रियाशील रूप में ही ग्रहण किया जाये। फलतः उन बौद्धिक और सहजानुभूतिनिष्ठ माध्यमों तथा रीति-प्रक्रियाओं का भी परित्याग किया जाये, जिनसे व्यक्ति के निश्चित सारभूत अस्तित्व की धारणा उपलब्ध की जाती है। जब हम इस बात को स्वीकार कर लेते हैं कि मनुष्य का अस्तित्व अस्पष्ट और सक्रिय है, तब हमें यह भी मान लेना पड़ता है कि इस अस्तित्व के इन्द्रियात्मक रूप (अर्थात् वर्तमान) का बोध ही उसका सत्यस्वरूप है, उसके भूत और भविष्य का सत्यस्वरूप हमारी सामर्थ्य के अधीन है, उसके भूत तथा भविष्य का हम अनुमान अवश्य लगा सकते हैं, पर अनुमान अनुमान ही होता है, साक्षात्कार नहीं। क्योंकि मनुष्य की अस्पष्टता और सक्रियता को स्पष्ट (एकांगी) और निश्चित (स्थिर) बनाने में ही अनुचित रूपण निहित होता है। स्पष्ट है कि मनुष्य की अनिश्चयात्मक अस्पष्टता तथा सक्रियता आरोपित स्पष्टता और निश्चयता से उद्भूत 'अनुमान' का खण्डन सिद्ध कर देती। इसी तथ्य को [illegible] अस्तित्ववादी विचारक आत्मगत निरपेक्षात्मक बौद्धिक पद्धति के स्थान पर वस्तुगत ([illegible] पद्धति) पर बल देते हैं। इस प्रकार वे बुद्धि (rationality) की सर्वोपरिता का अस्वीकार करते हैं।

अस्तित्व की अस्पष्टता और सक्रियता का अर्थ है सम्भावना। यह सम्भावना [illegible] निश्चित [illegible] नहीं है बल्कि [illegible] है। [illegible]

यह सिद्ध हुआ कि मनुष्य की सम्भावना वैज्ञानिक सम्भावना के समान नियम शासित नहीं है, फलतः स्वतंत्र है। निष्कर्षतः मनुष्य सक्रिय है, इसलिए सम्भावना युक्त है और इसलिए वह स्वतंत्र भी है, चूंकि वह स्वतंत्र है, परिणामस्वरूप भौतिक और प्रत्ययगत सामान्यीकरण (generality) अथवा स्थिर समष्टिगत मानव-प्रकृति (Human nature) से भी बद्ध नहीं है। अततः वह व्यक्तिगत स्वतन्त्रता है व्यक्ति है और तत्सम्बद्ध कार्यों और परिणामों के लिए स्वयं उत्तरदायी भी।* इसी व्यक्तिगतता की सघन अनुभूति के कारण अस्तित्ववादी एकता-स्थापक हीगल और कांट के सारों को अस्वीकार करते हैं और बहिर्व्याप्ति अनेकता को स्वीकार करते हैं। अनेकता के स्वीकार का मतलब है इतर में अलगाव, विच्छिन्नता और अस्तित्व की एकांतता की स्वीकृति तथा तत्सम्बन्धों का नव सर्जन। इस तरह अस्तित्ववाद इतर से अलगाव पर आश्रित है और अपने आत्यन्तिक रूप में (उदाहरणार्थ सार्त्र में) मनुष्य के स्वयं से (मन और शरीर) अलगाव को भी मूलभूत मानता है और इस अलगाव के प्रत्ययवादी अथवा बौद्धिक विज्ञान प्राप्त समाधानों को अस्वीकार करता है। तत्त्वज्ञ और तदाश्रित वस्तुपरक मूल्यों को भी इसलिए इसमें तिरस्कृत किया गया है। व्यक्ति स्वतंत्र होने के कारण स्वयं मूल्य निर्माता है, हेडेगर के अतिरिक्त सब विचारक इस मत से सहमत हैं।

अस्तित्ववाद सामान्य मानव-प्रकृति को भ्रम समझता है, वह मनुष्य के स्थूल, सजीव और दैनिक अस्तित्व को अधिक महत्त्व देता है। दैनिक जीवन में व्यक्ति स्वयं को इतर से बद्ध भी पाता है और उससे स्वतंत्र भी। इस दुविधा की स्थिति में उसके अस्तित्व में आतंक, अमर्ष, भय प्रसन्नता, उदासीनता, ऊब आदि के भाव जाग्रत होते हैं, जो उपेक्ष्य न होकर ध्यातव्य हैं। क्योंकि इन्हीं के द्वारा वह 'जीता' है। किन्हीं धर्म, दर्शन, नीति आदि के सामान्य नियमों के आधार पर यदि वह इनकी उपेक्षा करे तो आत्म-प्रवचनापूर्ण और अप्रमाणिक जीवन-यापन करेगा। अस्तित्ववाद इस परम्परागत मोहाविष्ट सामान्य जीवन पद्धति को झटका देकर व्यक्तिनिष्ठ प्रामाणिकता को स्थापित करने का कठिन प्रयत्न है। इसमें अनेकता की स्वीकृति है, व्यक्ति

* 'स्वतन्त्रता' में नियमशासन की अस्वीकृति है। इसलिए किसी कार्य या फल के लिए नियम (इतर व्यवस्था) को उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता।

में ही प्राप्त होता है। हेरेक्लिटस, जिसका आधुनिक रूप बर्गसां का दर्शन है, का प्रवाह (Flux) प्रकारान्तर से अस्पष्टता और अस्थिरता की स्वीकृति और सामान्य का अस्वीकार है। असल में सामान्य विषय और विषयी के द्वैत का समाहार है। दूसरे स्तर पर यह विषयों और विषयियों की विशेषताओं को समतल कर एकता स्थापित करने का प्रयत्न करता है। प्रत्ययवादी दर्शन और विज्ञान दोनों में इस प्रक्रियागत सामान्य का सर्वोपरि स्थान रहा है। हीगल के विश्वात्मा और विज्ञान के अणु में कोई मूलभूत प्रक्रिया और निष्कर्षगत अन्तर नहीं है।* दोनों ही विशिष्ट की उपेक्षा कर सूक्ष्म और पृथक् सामान्य की स्थापना करते हैं, चाहे इस सामान्य में व्यक्ति-आत्मा (प्रत्ययवादी) केन्द्रस्थ हो या बहिर्व्याप्त पदार्थ (विज्ञान)। धर्म के क्षेत्र में भी ईश्वरीय सामान्य की प्रभुता द्रष्टव्य है। ईसाई धर्म का प्रारम्भिक ईश्वर श्रद्धाश्रित भावमय इकाई था, किन्तु मध्यकाल में थामस एक्वीनाज के प्रभाव से वह अरिस्टोटेलियन सार या धारणा बन गया था। व्यक्तिगत ईश्वर के गुण क्रमशः क्षीण हो गये थे। इसके साथ साथ चर्च के बौद्धिकीकरण और संस्थागत अधिकार के कारण भी एक इस प्रकार के सामान्य की स्थापना हुई कि व्यक्ति तुच्छ, नगण्य और कीटवत् बना दिया गया था। पश्चिमी समाज-व्यवस्था के निर्माण में इन तीनों तत्वों का ही योगदान रहा है। फलत. सामाजिक स्तर पर भी सामान्य की प्रतिष्ठा हुई, जिसके परिणाम स्वरूप विशिष्ट व्यक्ति एक उपकरण या समाज-यन्त्र के एक अंग मे परिवर्तित होता गया और हो रहा है।

इस सर्वक्षेत्रीय सामान्य के चंगुल से छुटकारा प्राप्त करने और व्यक्ति-सत्ता की पुनर्प्रतिष्ठा करने की आकांक्षा का परिणाम है अस्तित्ववाद का आविर्भाव। कीर्केगार्द द्वारा 'अस्तित्व' शब्द के प्रचलन और विशेषार्थी प्रयोग से पूर्व पास्कल (Pascal) और ऑगस्टाइन (Augustine) में इस सामान्य का भावात्मक विरोध प्राप्त होता है। कीर्केगार्द मे यह अत्यन्त प्रबल भावावेश के रूप में प्रकट हुआ है। कीर्केगार्द ने प्रत्ययवादी दर्शन (हीगल) विज्ञान और धर्म (चर्च) तीनों स्तरों पर विद्रोह किया और विषयीभाव (subjectivity)

* प्रत्ययवाद में निगमन (deduction) का प्रयोग होता है, जबकि विज्ञान मे आगमन (Induction) का।

की सबल स्थापना की है। यास्पर्स, मार्सेल, सार्त्र, बूबर आदि सब अस्तित्ववादी इस अनेक रूप सामान्य का विरोध करते हैं और व्यक्ति-सत्ता के महत्व का प्रतिपादन।

बीसवीं सदी में यह अधिक लोकप्रिय हुआ है। पास्कल, नीत्शे, कीर्केगार्द, डेस्टोवस्की आदि की विचार-प्रवृत्ति अस्तित्ववादी होते हुए भी अपने समय को प्रभावित नहीं कर सकी थी। प्रत्ययवादी दर्शन के प्रामुख्य और विज्ञानाश्रित मानवतावाद के प्रबोधयुगीन आदर्शों के कारण उस युग को अस्तित्ववादी यथार्थ मानव अयथार्थ लगा था। किन्तु बीसवीं सदी में प्रत्ययवाद, धर्म और मानवतावाद के अप्रामुख्य से इसको सर्वप्रमुख माने जाने लगा है। आज के पश्चिमी (विशेषतः योरोपीय) व्यक्ति की स्थिति के पर्यवेक्षण से यह बात अधिक सफलता से समझ में आयेगी।

यह निर्विवाद है कि विज्ञान के विकास ने पश्चिम में अभूतपूर्व उथलपुथल मचाई है। विज्ञान से उस प्रबोधयुगीन मानववाद या उदारतावादी ऐतिहासिक दृष्टिकोण का जन्म हुआ, जिससे व्यक्ति के महत्त्व की स्थापना बहिर्व्याप्त पदार्थ के सन्दर्भ में हुई। प्रकृति विजेय है, जानी जा सकती है, पदार्थ ही सत्य है आदि वैज्ञानिक उपलब्धिजन्य धारणाओं ने व्यक्ति को आशावान तो अवश्य किया, कुछ अंश तक विशिष्ट के महत्त्व की स्थापना भी की, किन्तु अन्ततः उसे प्रकृति के सामान्य का एक अंग ही स्थिर किया। यह मानवतावादी व्यक्ति धीरे-धीरे विषयगत अर्थात् मात्रात्मक होता गया। इसी भावभूमि से जन्मी प्रजातन्त्र की राजनीतिक व्यवस्था से यह बात सिद्ध होती है। बहुसंख्या का राज्य विषयगत वस्तुपरक (objective) बहुलता का ही राज्य है, व्यक्ति का नहीं। हाथ उठाने से (vote) जब कोई बात तय होती है तो वहां व्यक्तिगत विवेक, आत्मा और नैतिक अनुभूति की उपेक्षा होना अनिवार्य है। इस तरह प्रजातन्त्र की राज्य व्यवस्था भी व्यक्ति-शोषक ही सिद्ध होती है, फासिज्म-नाजिज्म और मार्क्सिज्म की व्यवस्थाओं में तो यह होना अत्यन्त स्वाभाविक है ही। सामाजिक स्तर पर विज्ञान का बड़ा विघटनकारी प्रभाव पड़ा है। यन्त्र, उद्योग और नगरीकरण की उत्तरोत्तर उन्नति से कृषिप्रधान पारिवारिक भावात्मक दृष्टि खण्डित हो चुकी है, जिसका कुप्रभाव परिवार और पड़ौस दोनों क्षेत्रों के सम्बन्धों पर पड़ा है। यन्त्र ने मनुष्य को बुद्धिरहित पुर्जा बना दिया है, उद्योग ने उसे आर्थिक सिद्ध किया है और नगरीकरण ने

उसमें बाजारू सम्बन्ध-भावना (Market-relations) उत्पन्न की है। भादर्श मूल्यों के विनाश के साथ स्वतंत्र व्यक्ति-सापेक्ष मूल्यों की स्थापना हुई है और ये मूल्य अधिकांशत: (पूर्वोक्त यंत्र आदि के विकास के कारण) अर्थ, पद और स्थूल नेतृत्व तक सीमित रह गये हैं। फलत: मनुष्य की भावात्मक परस्परावलंबन की वृत्ति निर्जीव (atrophied) होती जा रही है। वस्तुत: यंत्र मनुष्य के मनुष्यत्व को नष्ट करता जा रहा है। बटन दबाते ही मशीन के चालू होने से उसकी शारीरिक शक्ति उपेक्षित हो गई है और विज्ञान-निर्मित कम्प्यूटर के आविष्कार से उसकी बुद्धि की महत्ता भी नष्ट होने वाली है। इसी अमानवीयता को लक्ष्य कर एरिकफाम (Eric Fromm) ने कहा है कि उन्नीसवीं शती में ईश्वर मरा तो बीसवीं शती में मनुष्य ही 'मर' गया है। स्पष्ट है कि जो यंत्र मनुष्य का दास था, आज स्वामी हो गया है। फलतः सुखादि के श्रेय-प्रेय भावों का आलंबन न होकर भय, घृणा, निरर्थकता आदि की अनुभूति का जन्मदाता बन गया है। दूसरी तरफ इसी वैज्ञानिक यंत्र का परिणाम है सर्वसंहारी आणविक अस्त्र, जो मनुष्यों को कीड़े मकोड़े के समान मार डालते हैं। उसकी मृत्यु भी मानवीय नहीं रही। विश्व-युद्धों की दुर्घटनाएं वैज्ञानिक विकास की संहारकारिता को ही प्रमाणित नहीं करतीं, विज्ञानोत्पन्न बुद्धि-श्रद्धा और मानवतावाद को भी निरर्थक सिद्ध करती हैं। युद्ध मनुष्य के अविवेक, पाशविकता और आसुरी वृत्तियों का परिणाम है। मनुष्य विवेकशील नहीं है, यह पीड़ादायक प्रतीति 'व्यक्ति' की पुनर्प्रतिष्ठा की मांग करती है तथा यह भी प्रमाणित करती है कि मनुष्य भाविकथनीय (Predictable) नहीं है। वह स्वतंत्र है, आवश्यकता (Necessity or determinism) का पुतला नहीं है।

स्पष्ट है कि युद्ध-जनित पीड़ा, मृत्यु-बोध, नगण्यता, निरर्थकता, सत्वहीनता आदि के नकारों का समावेश अस्तित्ववाद में हुआ है, पर इसे इन्हीं तक सीमित मान लेना न्यायसंगत नहीं है। अस्तित्ववाद रोमेंटिक मानवतावादी की तरह जीवन के शुक्लपक्ष को ही नहीं देखता वह उसके कृष्ण पक्ष की उपस्थिति को भी स्वीकार करता है। किन्तु इसके साथ ही साथ वह व्यक्ति के महत्व, उसकी स्वतंत्रता, उत्तरदायित्व, स्वावलंबन, चुनाव की गरिमा आदि व्यक्ति-प्रतिस्थापक गुणों का सबल समर्थन करता है। प्रकारान्तर से यह अपने कृष्ण पक्ष के प्रति भी विद्रोह करता है। सम्यक् ज्ञान से उद्भूत व्यक्तिगत प्रामाणिक जीवन

है। यह 'न-भावी' नाता स्वभावतः इनमें संघर्ष या द्वन्द्व उत्पन्न करता है। परिणामस्वरूप व्यक्ति और वस्तु का अलगाव मृत्युपर्यन्त रहेगा। इतना ही नहीं, सार्त्र व्यक्ति को अन्य व्यक्तियों से भी हमेशा के लिए 'अलग' देखता है। जैसा पहले सार्त्र पर विचार करते समय स्पष्ट किया जा चुका है कि सार्त्र का व्यक्ति देकार्तीय विषयी-विषय द्वन्द्व का विषयी (Subject) है, जो अन्य को विषय रूप (object) में ही ग्रहण करता है, जबकि अन्य व्यक्ति भी चेतन होने के कारण पूर्णतः विषय नहीं है। इसलिए संघर्ष अवश्यंभावी है। सार्त्र में यह अलगाव चरमावस्था प्राप्त करता है, क्योंकि यहाँ व्यक्ति के शरीर तथा मस्तिष्क में ही नहीं स्वयं चेतना (मस्तिष्क) में भी विषयी-विषयात्मक विभाजन स्वीकार कर लिया गया है। कीर्केगार्द, जो विषयी भाव को ही अपना प्रमाण मानता था, भी इस अलगाव की समस्या का कोई निश्चित समाधान नहीं दे सका है, यद्यपि उसके दर्शन में मनुष्य और ईश्वर के अलगाव पर अधिक बल दिया गया है। ईश्वर और व्यक्ति में क्षणिक सामंजस्य स्थापित भी होता है, किन्तु फिर वही अलगाव पुनः जी उठता है। इसीलिए वह बार-बार 'पुनरावृत्ति' की बात कहता है। वस्तु और व्यक्ति-चेतना में सामंजस्य तो 'विषयी भाव' ही को प्रामाणिक मानने वाले दर्शन में अकल्प्य ही है। यास्पर्स और बूबर में भावात्मक स्तर पर प्रेम के द्वारा सामंजस्य स्थापित करने का प्रयत्न द्रष्टव्य है, किन्तु यह भी अनिश्चित, अस्थिर और भेदाभेदमय होने के कारण सर्जन और कार्य का आधार नहीं बन सकता है। यह भावात्मक अनुभूति मात्र रह जाता है, जिसमें द्वैध या संघर्ष तो नहीं होता, पर सम्पूर्ण समन्वय न होने से निर्माणक शक्ति का जोशखरोश भी अनुपस्थित ही रहता है। यह 'हम असहमत होने के लिए सहमत हैं' जैसी स्थिति प्रतीत होती है। हेडेगर में अवश्य 'भू' की धारणा के द्वारा सामंजस्य की निर्मिति हुई है। पर वह सामंजस्य भी आज के व्यक्ति के लिए समाधान रूप नहीं हो सकता, क्योंकि हेडेगर 'भू' की पुनस्मृति (recall) की बात करता है, पर यह पुनस्मृति 'कैसे हो ?' के विषय में मौन रहता है। इस तरह अस्तित्ववाद इस क्षेत्र में असफल सिद्ध हुआ है और इसके सफल सिद्ध होने की सम्भावना भी नहीं है। क्योंकि इसने इतर के मूल्य पर व्यक्ति (अहम्) को अधिक महत्त्व दिया गया है।

वस्तुतः अलगाव का समाधान अस्तित्ववाद में इसलिए नहीं है, क्योंकि

इसमें समस्या के रूप में अलगाव प्रमुख नहीं है, सामान्यता, सामूहिकता या वस्तुपरकता की अतिव्याप्ति का संकट प्रमुख है। यह अस्तित्व-संकट का दर्शन है, जो वैज्ञानिक मशीन की भौतिकता, राज्य की वायवी नियम-शक्ति, उद्योग की अमानवीयता, समाज की सामूहिकता और युद्ध की पाशविकता के प्रतिरोध का सजग प्रयत्न करता है। इसीलिए इसमें व्यक्ति को बलपूर्वक सर्वाधिक गण्यतम और महत्वपूर्ण माना गया है, जिसका परोक्ष प्रतिफल यह हुआ है कि व्यक्ति और भी अलग, अकेला और आत्मनिष्ठ बनता गया है।

सामूहिकता से बचाव का रास्ता है उसमें सम्पूर्ण मुक्ति अर्थात् व्यक्ति की स्वतंत्रता की सबल स्थापना। सब अस्तित्ववादियों में व्यक्ति की स्वतंत्रता स्वीकृत हुई है। व्यक्ति चेतना स्वतंत्र है, क्योंकि व्यक्ति चुनाव करता है। चुनाव की क्रिया किसी कार्यकारण-परम्परा से बद्ध नहीं है। चुनाव व्यक्ति चेतना की स्वतंत्रता को प्रमाणित करता है और स्वतंत्रता चुनाव की संभावना का आधार निर्मित करती है। मनुष्य स्वतंत्र है, इसी कारण से वह चुनाव कर सकता है अर्थात् नियति और कार्यकारण के नियमन से अतीत हो सकता है। कीर्कगार्द से लेकर बूबर तक सब चर्चित विचारक व्यक्ति चेतना के स्वातंत्र्य पर बल देते हैं। इस स्वतंत्रता का भावाविष्ट धार्मिक रूप कीर्कगार्द और नीत्शे में प्राप्त होता है तो बौद्धिक विश्लेषण हेडेगर और सार्त्र में। सार्त्र में यह चरमसीमा तक पहुँच चुकी है। रूसो आदि रोमैंटिक विचारकों का प्रदाय ही यह व्यक्ति स्वतंत्रता है, जिसको अस्तित्ववाद में सत्त्वविधायक तत्व का रूप दे दिया गया है। सार्त्र, रूसो के समान, मानता है कि मनुष्य जन्म से ही स्वतंत्र है, पर वह रूसो की दूसरी बात कि वह हरेक स्थान पर बद्ध भी है को अस्वीकार करता है। मनुष्य स्वतंत्र है अर्थात् समूह के विचार, परम्परा, नियम और व्यवस्था से बद्ध नहीं है। वह व्यवस्था में उत्पन्न होता है, किन्तु अपनी उस व्यवस्था को पुनर्निर्मित कर स्वयं की व्यवस्था स्थापित करता है। इसी चेतना की स्वतंत्रता की बौद्धिक मांग है चेतना की अवस्तुता या 'कुछ नहीं' होना। 'कुछ' या वस्तु होते ही चेतना उस 'कुछ' या वस्तु में सचालित फलतः नियमित और बद्ध हो जाती है। इसलिए इस बंधन को हटाने के लिए चेतना की अवस्तु (Nothing) के रूप में धारणा तार्किक अनिवार्यता है। 'कुछ नहीं' है, परिणामतः स्वतन्त्र है अर्थात् मनुष्य चेतना की कोई प्रदत्त निश्चित प्रकृति, परिभाषा, या सारता नहीं है। व्यक्ति अपनी प्रकृति, परिभाषा या

सारता का निर्माण स्वयं-वस्तु के सम्पर्क से-करता है, जो अन्तिम नहीं होता। गतिशील और अतिक्रमणयुक्त होने से यह किसी भी स्थूल और सूक्ष्म बंधन से सीमित नहीं हो सकती। इसलिए यह अपनी निर्मिति अर्थात् उद्देश्यों, मूल्यों और स्व अर्जित व्यवस्थाओं का भी अतिक्रम करती रहती है। इस क्रिया में उसका कोई गतिरोधक बन्धन या वस्तुगत सीमा नहीं है; न देश का व्यवधान, न काल का प्रतिरोध और न मूल्य-विचार की अनिवार्यता। व्यक्ति स्वयं देश को स्वीकार करता है, यह उसका स्वतन्त्र चुनाव है। वह काल को उत्पन्न' करता है।* उसकी चेतना में पूर्व प्रदत्त कोई मूल्य नहीं होते और न कोई प्रत्यय ही होते हैं। ये मूल्य और प्रत्यय उसकी चेतना से ही समय समय पर उद्भूत होते हैं, फलतः सर्जक की सामर्थ्य के कारण वह इनसे स्वतंत्र है, इन मूल्यों की अस्थायी रचनात्मक स्थिति ही है।

मनुष्य इस स्वतन्त्रता से बच नहीं सकता। सार्त्र की भाषा में वह स्वतन्त्र होने के लिए अभिशप्त है। उसे संसार में चुनाव करना ही पड़ता है, चुनाव नहीं करने का निश्चय भी चुनाव ही है। अर्थात् स्व-स्वतन्त्रता का प्रयोग है। कायर व्यक्ति 'होने' नहीं वीरता और कायरता में कायरता को चुनते हैं। फलतः यह स्वतन्त्रता व्यक्ति के सम्पूर्ण कार्य व्यवहार में क्रियाशील है, सामान्य तत्त्व के रूप में नहीं, व्यक्तिगत चेतन-क्रिया के रूप में। स्पष्ट है कि व्यक्ति इस स्वतन्त्रता के कारण वस्तु, परिवेश अन्य और शरीर में बटता है, विच्छिन्न होता है, अकेला बनता है। अर्थात् अलगाव सहज ही उत्पन्न हो जाता है। सार्त्र और कामू इस अलगाव को स्वाभाविक मान कर स्वीकार करते हैं। इसलिए व्यक्ति की पीड़ा, संत्रास, सन्त्रास और क्षणिकता को स्वीकार करते हैं।

पर क्या व्यक्ति की स्वतन्त्रता इतनी आत्यन्तिक और परम है? क्या ऐसा नहीं लगता कि स्वतन्त्रता इस रूप में सजीव व्यक्ति की अनुभूति और क्रिया न होकर एक वायवी धारणा मात्र रह जाती है? सार्त्र कहता है कि न चुनना भी चुनना है अर्थात् स्वतन्त्रता है, तो फिर 'न चुनना' और 'चुनना' क्या एक ही है? फिर परतन्त्रता और स्वतन्त्रता में भेद क्या है? क्या 'न चुनना' परतन्त्रता नहीं है? व्यक्ति 'चुनता' है स्वतन्त्रता के कारण और 'न चुनने' को भी 'चुनता' है, इसी स्वतन्त्रता के कारण। सार्त्र बुद्धि विशेष

* 'सार्त्र' विषयक अध्याय में यह बात सविस्तार विवेचित हो चुकी है।

करते हुए भी पुंजीभूत सत्ता की व्याख्या कर रहा है । सामान्य व्यक्ति 'बुरी' चुनने का कार्य अपनी स्वतन्त्रता के कारण नहीं करता, पर अनेक विवशता-पूर्ण कारणों से करता है । जिस सामान्य के प्रति सार्त्र विद्रोह करता है वही सामान्य स्वतन्त्रता को वह स्वीकार करने लग जाता है । यह विरोधपूर्ण स्वतन्त्रता एक भयानक विचार मात्र प्रतीत होती है । इसमें नास्तिक असंगति भी प्रतीत होती है । थोड़ा पुनः विचार करें । सार्त्र चेतनाओं की अनेकता मानता है, क्योंकि व्यक्ति अनेक हैं । इसलिये इन चेतनाओं का सर्जन, कार्य, स्थिति का विश्व भी अनेक है, भिन्न है, परस्पर द्वन्द्वात्मक है । पर ऐसा क्यों है ? सार्त्र की चेतनाएं पूर्णतः स्वतन्त्र हैं, इसका अर्थ होना चाहिए कि अनेकत्व भिन्न होते हुए भी इनमें पूर्णतः समानता है । क्योंकि समानता को चेतना पर स्वयं स्वीकार करता है परन्तु वे उत्पन्न होती हैं । यदि वंश-परम्परा, संस्कार, वृत्ति, परिवेश आदि किसी का भी बन्धन उस चेतना में नहीं है तो फिर इन चेतनाओं में द्वन्द्वात्मक विरोध क्यों उभरता है, यह या यह अनेक विध भेदात्मक विकास क्यों होता है । स्वतन्त्रता और स्वतन्त्रता का संघर्ष* क्यों होता है ? इस चेतना के 'मैं' और 'दूसरे' की भिन्नता क्यों है ? सार्त्र के दर्शन में इसका कोई स्पष्ट समुचित उत्तर व्यावहारिक स्तर पर नहीं प्राप्त होता । यह भी हीगल के समान परम (Absolute) सामान्य स्थापित करने की चेष्टा मात्र लगता है, जिसका दैनंदिन सजीव मानव के कार्यकलाप से बड़ा क्षीण सम्बन्ध है ।

दैनिक जीवन में ऐसी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र चेतना नहीं प्राप्त होती । सार्त्र स्वीकारता है कि स्वतन्त्रता कार्य में अभिव्यक्त होती है अर्थात् चुनाव करते के कार्य में ही स्वतन्त्रता है । कार्य बाहर (भौतिक और सामाजिक परिवेश) में घटित होता है, अन्तर में घटित होने वाला कार्य दिवास्वप्न मात्र है । यदि यह कार्य बाहर घटित होता है तो बाहर से प्रभावित भी होता है, स्वतन्त्रता कब अंश तक बाहर से सीमित है । वह बाहर का अतिक्रमण करे तो भी बाहर की 'अपनी सीमा' का, उसके ज्ञान का अतिक्रमण करेगी । मार्क्सेतर-

---

* सार्त्र के 'मैं' और 'अन्य' के सम्बन्धों में यह स्वतन्त्रताओं का ही संघर्ष है । इसके अतिरिक्त सार्त्र स्वतन्त्रता की प्रतिरोधक सीमा अन्य स्वतन्त्रता को ही मानता है ।

संकट के समय सार्त्र के समान 'ना' कहने की स्वतन्त्रता-प्रयोग के लिये फ्रांस की भूमि और नाजी आक्रमण की परिसीमा आवश्यक है, भारत का बुद्धिजीवी ऐसा नहीं कर सकता। दूसरी ओर व्यक्ति की चेतना का कार्य उद्देश्यपरक भी होता है, चाहे वह उद्देश्यों के परिवर्तन में समर्थ हो, पर 'उद्देश्य' तो रहता ही है। इसे अस्तित्ववादी भी स्वीकार करते हैं। यह उद्देश्य का अनुशासन चेतना में रहना अनिवार्य है. 'उद्देश्य' बदल सकते हैं, पर अनुशासन नष्ट नहीं होता। चेतना अनिवार्यता (Necessity) नहीं है, पर वह परम स्वतन्त्रता भी नहीं है। वस्तुतः रूसो के रोमासवाद में एक तथ्य व्यंग्य था, जिस पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। रूसो मनुष्य को स्वतन्त्र के साथ सर्वत्र वन्धित भी देखता है। यद्यपि रूसो का यह बन्धन सामाजिक और राजनीतिक अधिक था, फिर भी उससे यह अर्थ निकाला जा सकता है कि मनुष्य की चेतना देशकाल के वृत्त में स्थित होने के कारण उससे बद्ध है, किन्तु इस बद्धता से मुक्ति प्राप्त कर नई अनुकूल बद्धता निर्मित करने की समर्थता उसमें है। निरन्तर नव बद्धता निर्माण की शक्ति ही उसकी स्वतन्त्रता है।

इसी व्यक्ति-चेतना के स्वातंत्र्य पर अनुशासनहीन बल के कारण अस्तित्ववाद में समाजपरक नीति (Ethical) तर्क और राजनीति की उपेक्षा दिखाई देती है। नीति की कोई निश्चित व्यवस्था इसमें नहीं है। इसके अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना से ही नैतिक मूल्य उत्पन्न होते है, जो अस्थिर और व्यक्तिनिष्ठ ही बन पाते हैं। फलत. समाजगत नैतिक व्यवहार के लिए सिद्धान्ततः ही अनुपयोगी हैं। सार्त्र की सहयोगिनी साइमन द ब्वोवाय * (Simone de Beauvoir) ने इसीलिए अस्पष्टता, अनिश्चितता और व्यक्तिनिष्ठता की नीति व्यवस्था की स्थापना की है, जो नीति नहीं व्यक्ति का मनमाना अस्थिर मूल्य-आरोपण मात्र सिद्ध होती है। इसी प्रकार अस्तित्ववादी तर्क (existentiali t logic) का भी विकास नहीं हुआ है। इन्द्रिय-विषय परक ज्ञान और सहजानुभूति की कुहेलिका और व्यक्तिनिष्ठता किसी तर्क व्यवस्था को पनपने नहीं देती। इन्द्रिय-विषय लेखन तर्क नहीं वर्णन मात्र है। राजनीति के सबंध में भी किसी निश्चित सिद्धान्त की अनुपस्थिति दिखाई पड़ता है। 'मैं' का

* 'Ethics of Ambiguity'—Simone de Beauvoir.

करते हुए भी वुद्धिगत प्रत्यय की स्थापना कर रहा है । सामान्य व्यक्ति 'नहीं चुनने' का कार्य अपनी स्वतन्त्रता के कारण नहीं करता, अन्य अनेक विवशता-सूचक कारणों से करता है । जिस सामान्य के प्रति सार्त्र विद्रोह करता है उसी सामान्य स्वतन्त्रता की वह स्थापना करता सा लगता है । यह निरापुन स्वतन्त्रता एक भ्रमात्मक विचार मात्र प्रतीत होती है । इसमें तार्किक असंगति भी प्रतीत होती है । थोड़ा सूक्ष्म विचार करें । सार्त्र चेतनाओं की अनेकता मानता है, क्योंकि व्यक्ति अनेक हैं । इसलिये इन चेतनाओं का सर्जन, कार्य, निर्मिति या विश्व भी अनेक हैं, भिन्न हैं, फलतः द्वन्द्वात्मक हैं पर ऐसा क्यों है ? सार्त्र की चेतनाएं मूलतः अहरहित हैं, इसका मतलब होना चाहिए कि अनेकशः स्थित होते हुए भी इनमे मूलभूत समानता है । क्योंकि असमानता तो जैसा वह स्वयं स्वीकार करता है अहम् से उत्पन्न होती है । यदि वश-परम्परा, संस्कार, वृत्ति, परिवेश आदि किसी का भी बन्धन उस चेतना में नहीं है तो फिर इन चेतनाओ मे द्वन्द्वात्मक विभेद क्यों उपजता है, अहं का यह अनेक विध भेदात्मक विकास क्यों होता है । स्वतन्त्रता और स्वतन्त्रता का संघर्ष* क्यों होता है ? इस चेतना में 'न चुनने' और 'चुनने' की भिन्नता क्यों है ? सार्त्र के दर्शन मे इसका कोई स्पष्ट समुचित उत्तर व्यावहारिक स्तर पर नही प्राप्त होता । यह भी हीगल के समान परम (Absolute) सामान्य स्थापित करने की चेष्टा मात्र लगता है, जिसका दैनन्दिन सजीव मानव के कार्यकलाप से बड़ा क्षीण सम्बन्ध है ।

दैनिक जीवन में ऐसी सर्वतन्त्रस्वतन्त्र चेतना नही प्राप्त होती । सार्त्र स्वीकारता है कि स्वतन्त्रता कार्य से अभिव्यक्त होती है अर्थात् चुनाव करते के कार्य मे ही स्वतन्त्रता है । कार्य बाहर (भौतिक और सामाजिक परिवेश) में घटित होता है, अन्तर में घटित होने वाला कार्य दिवास्वप्न मात्र है । यदि यह कार्य बाहर घटित होता है तो बाहर से प्रशासित भी होता है, स्वतन्त्रता उस अंश तक बाहर से सीमित है । वह बाहर का अतिक्रमण करे तो भी बाहर की 'अपनी सीमा' का, उसके ज्ञान का अतिक्रमण करेगी । अन्तरा-

---

* सार्त्र के 'मैं' और 'अन्य' के सम्बन्धों मे यह स्वतन्त्रताओं का ही संघर्ष है । इसके अतिरिक्त सार्त्र स्वतन्त्रता की अनिरोधक सीमा अन्य स्वतन्त्रता को ही मानता है ।

सकट के समय सार्त्र के समान 'ना' कहने की स्वतन्त्रता-प्रयोग के लिये फ्रांस की भूमि और नाजी आक्रमण की परिसीमा आवश्यक है, भारत का बुद्धिजीवी ऐसा नहीं कर सकता। दूसरी ओर व्यक्ति की चेतना का कार्य उद्देश्यपरक भी होता है, चाहे वह उद्देश्यों के परिवर्तन में समर्थ हो, पर 'उद्देश्य' तो रहता ही है। इसे अस्तित्ववादी भी स्वीकार करते हैं। यह उद्देश्य का अनुशासन चेतना में रहना अनिवार्य है, 'उद्देश्य' बदल सकते हैं, पर अनुशासन नष्ट नहीं होता। चेतना अनिवार्यता (Necessity) नहीं है, पर वह परम स्वतन्त्रता भी नहीं है। वस्तुतः रूसो के रोमांसवाद में एक तथ्य व्यंग्य था, जिस पर अधिक ध्यान नहीं दिया गया। रूसो मनुष्य को स्वतन्त्र के साथ सर्वत्र बन्धित भी देखता है। यद्यपि रूसो का यह बन्धन सामाजिक और राजनीतिक अधिक थी, फिर भी उससे यह अर्थ निकाला जा सकता है कि मनुष्य की चेतना देशकाल के वृत्त में स्थित होने के कारण उससे बद्ध है, किन्तु इस बद्धता से मुक्ति प्राप्त कर नई अनुकूल बद्धता निर्मित करने की समर्थता उसमें है। निरन्तर नव बद्धता निर्माण की शक्ति ही उसकी स्वतन्त्रता है।

इसी व्यक्ति-चेतना के स्वातंत्र्य पर अनुशासनहीन बल के कारण अस्तित्ववाद में समाजपरक नीति (Ethical) तर्क और राजनीति की उपेक्षा दिखाई देती है। नीति की कोई निश्चित व्यवस्था इसमें नहीं है। इसके अनुसार व्यक्ति की स्वतन्त्र चेतना से ही नैतिक मूल्य उत्पन्न होते हैं, जो अस्थिर और व्यक्तिनिष्ठ ही बन पाते हैं। *फलतः समाजगत नैतिक व्यवहार के लिए सिद्धान्ततः ही* अनुपयोगी हैं। सार्त्र की सहयोगनी साइमन द ब्वोवाय * (Simone de Beauvoir) ने इसीलिए अस्पष्टता, अनिश्चितता और व्यक्तिनिष्ठता की नीति व्यवस्था की स्थापना की है, जो नीति नहीं व्यक्ति का मनमाना अस्थिर मूल्य-आरोपण मात्र सिद्ध होती है। इसी प्रकार अस्तित्ववादी तर्क (existentialist logic) का भी विकास नहीं हुआ है। इन्द्रिय-विषय परक ज्ञान और सहज़ानुभूति की कुहेलिका और व्यक्तिनिष्ठता किसी तर्क व्यवस्था को पनपने नहीं देती। इन्द्रिय-विषय लेखन तर्क नहीं वर्णन मात्र है। राजनीति के संबंध में भी किसी निश्चित सिद्धान्त की अनुपस्थिति दिखाई पड़ता है। 'मैं' का

* 'Ethics of Ambiguity'

समूह से सम्बन्ध, सामाजिक स्तर पर, इन दोनों के अभाव में स्थापित हो ही नहीं सकता।

स्वच्छन्दता व्यक्ति को सर्व के लिए उत्तरदायी बनाती है। इसीलिए उसके अभाव को कहते हैं, समाज या बाहरी व्यवस्था से उद्भूत नहीं। फलतः समाज या बाहरी व्यवस्था के सुधार को न तो आवश्यक प्रेरणा ही उसमें हो सकती है और न इस सुधार से किसी प्रकार की मानसिक शान्ति ही प्राप्त होगी। स्वतंत्र व्यक्ति भी अवसाद, पीड़ा, आतंक से उतना ही ग्रस्त रहेगा, जितना परतंत्र। फिर व्यक्ति स्वतंत्र बनने के लिए प्रयत्न ही क्यों करे? सार्त्र स्वतंत्रता को उद्देश्य न मानकर अस्तित्वविधायक तत्त्व मानता है। इसलिए इसमें आगे वर्गसंघर्ष की विचारपरक स्थिति अनुपस्थित है। यह एक प्रवाह है, क्रिया है, जो स्वचर्या से ही प्रतिफलित रहती है इसलिए यह रोग का उपचार न होकर रोग की प्रक्रिया ही सिद्ध होती है।

निष्कर्षतः अस्तित्ववाद आधुनिक पश्चिमी व्यक्ति के रुग्ण मन का प्रतिबिम्ब है, उसका यथातथ्य दर्शन है, किन्तु समुचित समाधान नहीं है। इसमें जीवन-स्थिति का चित्रण है, पर स्वस्थ जीवनदृष्टि का पूर्णतया अभाव ही दिखाई देता है। फलतः यह 'अच्छा' मनोविज्ञान है पर 'बुरा' जीवन-दर्शन या भूतातीतविद्या (Metaphysics) सिद्ध होता है।